Click Here

पंचाध्यायी

- 15_पंचाध्यायी

nikkyjain@gmail.com
Date : 17-Nov-2022

Index

अधिकार

मंगलाचरण	उत्तरार्द्ध

Index

गाथा / सूत्र	विषय
	मंगलाचरण
1-001)	मंगलाचरण और आशय
1-007)	सामान्य-विशेष वस्तु के कथन की प्रतिज्ञा
1-008)	सामान्य वस्तु (सत्) -- स्वत:सिद्ध, स्वसहाय, निर्विकल्प और अनादि-निधन
1-009)	ऐसा न मानने में ४ दोष
1-010)	असत् पदार्थ की उत्पत्ति में दोष
1-011)	पर से सिद्ध मानने में दोष
1-012)	युतसिद्ध मानने में दोष

1-013)	सत् का नाश मानने में दोष
1-014)	सारांश
1-015)	सत्ता विचार
1-016)	शंकाकार - सत्ता स्वतन्त्र है, उसका कोई प्रतिपक्ष नहीं
1-018)	शंकाकार - सत्ता की स्वतंत्रता एक नय से सिद्ध
1-020-022)	परस्पर की प्रतिपक्षता
1-023)	शंकाकर - अखण्ड वस्तु में भेद कल्पना क्यों ?
1-027)	शंकाकार - द्रव्य प्रत्यक्ष ही 'एक' दिखता है तो ऊपर कथित अंश-कल्पना क्यों मानी जाय ?
1-028-030)	उत्तर - उपर्युक्त व्यवस्था न मानने पर द्रव्य को देशहीन या एक-प्रदेशी मानना सदोष
1-031)	शंकाकार - प्रत्येक निरंश में द्रव्य का लक्षण होने से उन्हें प्रथक-प्रथक द्रव्य ही क्यों न माना जाय ?
1-036-037)	एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है
1-038)	द्रव्य और गुण
1-039-040)	गुण, गुणी से जुदा नहीं है, दृष्टांत
1-041)	शंकाकार - देश और देशांशों को भिन्न और युतसिद्ध क्यों न माना जाय ?

1-046)	शंकाकार - गुण-गुणी में सर्वथा अद्वैत क्यों न माना जाय ?
1-053-055)	गुणों में अंशविभाग, पुद्गल और जीव का उदाहरण
1-056)	गुणों के अंशों में क्रम
1-057-059)	गुणों का छेदक्रम
1-060)	पर्याय के पर्यायवाचक शब्द
1-061)	गुणांश ही गुणपर्याय है
1-062-063)	गुण-पर्याय और द्रव्य-पर्याय के नामान्तर
1-064)	शंका -- द्रव्य या पर्याय में से एक के कथन के बाद दूसरे का कथन करना क्या निष्फल नहीं है ?
1-066)	नित्यता और अनित्यता का दृष्टान्त
1-067)	दूसरा जीव का दृष्टान्त
1-068-069)	आशंका
1-071)	द्रव्य-लक्षण-उपक्रम
1-072-076)	द्रव्य का लक्षण
1-077)	उदाहरण
1-078-080)	कारक और आधाराधेय की भिन्नता-अभिन्नता दृष्टांत सहित
1-081)	शंकाकार - गुण और द्रव्य सर्वथा एकार्थक, गुण-समुदाय ही मानना चाहिए,

	द्रव्य नहीं
1-084)	सारांश
1-085)	विशेष लक्षण कहने की प्रतिज्ञा
1-086)	द्रव्य का लक्षण
1-087)	उसी का स्पष्टार्थ
1-088)	सत् गुण भी है और द्रव्य भी है
1-090)	वस्तु को परिणामी न मानने में दोष
1-092)	उत्पादादि त्रय के उदाहरण
1-093)	शंकाकार - परिणाम-परिणामी मानना कल्पना मात्र, इसमें कोई फ़ायदा / नुकसान नहीं
1-094-096)	उत्तर - परिणाम-परिणामी मानने में लाभ, न मानने में दोष
1-097)	शंका -- 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' और 'सद्द्रव्यलक्षणम्' दोनों लक्षण क्या एक दूसरे के बाधक नहीं है?
1-115)	शंका -- गुणों को पर्याय के समान नित्यानित्यात्मक क्यों कहा है ?
1-118)	शंका -- गुण नित्य और परिणाम अनित्य किन्तु इनके मध्य में रहनेवाला द्रव्य इनसे भिन्न है?
1-124-125)	शंका -- द्रव्य-रूप देश नित्य है इसकी अपेक्षा से ही ध्रौव्य है, गुण-रूप विशेष अनित्य हैं, उनकी अपेक्षा से ही उत्पाद-व्यय हैं ?

1-132)	शंका -- गुण=पर्याय ही कहना चाहिए, द्रव्य-पर्याय नहीं
1-140-144)	शंका--सहभू शब्द का 'जो द्रव्य के साथ मिलकर रहें' अर्थ क्यों नहीं करें?
1-145)	शंका -- गुणों में भी व्यतिरेक संभव है
1-164-169)	पर्याय का विचार
1-170)	व्यतिरेक और क्रम में पारमार्थिक भेद क्या है?
1-176)	शंका--व्यतिरेक में क्रम की सिद्धि कैसे होती है?
1-181-182)	परिणमती हुई वस्तु को प्रति समय उत्पन्न और नष्ट क्यों न माना जाय?
1-193-194)	शंका -- गुण नित्य होने से उत्पाद-व्यय घटित नहीं होते, अथवा गुण में परिणमन के द्वारा गुण छोटे या बड़े होने चाहिए
1-207)	शंका -- द्रव्य में सत्व सर्वथा नित्य और परिणति (उत्पाद-व्यय) उससे सर्वथा भिन्न
1-211)	शंका -- क्या द्रव्य और गुण को नित्य और पर्याय को तरंगों की तरह अनित्य माना जाय ?
1-218)	शंका -- उत्पाद-व्यय अंश हो सकते हैं, ध्रौव्य नित्य होने से अंश कैसे हो सकता है?
1-226)	शंका -- उत्पादादिक तीनों क्या द्रव्य-रूप / पर्यायरूप / सत् के अंश / असत् रूप अंश हैं?
1-229)	शंका -- उत्पाद व्यय एक ही पदार्थ के हो सकते हैं, उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी

	कैसे?
1-232-233)	शंका -- उत्पादादि के भिन्न-भिन्न लक्षण होने से क्या उनमें समय-भेद है?
1-241-242)	विरोध संभावना
1-243-247)	उत्पादादि का अविरुद्ध स्वरूप
1-248)	शंका -- उत्पादादि तीनों में अविनाभाव कैसे?
1-256-260)	उत्पादादि को भिन्न-भिन्न मानने में दोष
1-261-263)	अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का विचार
1-264-266)	द्रव्य की अपेक्षा कथन
1-267-269)	अस्ति-नास्ति कथन
1-270-273)	क्षेत्र की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन
1-274-278)	काल की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन
1-279-284)	भाव की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन
1-285-287)	स्वभाव और परभाव का कथन
1-288)	बाकी की पांचों भंगों को लाने के संकेत
1-289-290)	वस्तु में अन्वय व्यतिरेक की सिद्धि
1-293-298)	शंका -- व्यतिरेक के अभाव में अन्वय अपने स्वरूप से है अर्थात् अन्वय व्यतिरेक सर्वथा स्वतंत्र हैं

1-301)	विधि, निषेध में सर्वथा नामभेद भी नहीं है
1-308)	स्याद्वादी का स्वरूप
1-309)	सत् ध्रुव होता हुआ भी विवक्षित समय में है अविवक्षित समय में नहीं, ऐसा कैसे?
1-311)	तद्भाव-अतद्भाव और नित्य-अनित्य में क्या भेद है?
1-313)	सत् के नित्यानित्य होना ही सदृश और विसदृश परिणाम की सिद्धि, तत् और अतत् क्यों?
1-315)	सर्वथा नित्य पक्ष में दोष
1-316)	सर्वथा अनित्य पक्ष में दोष
1-317)	केवल नित्यानित्यात्मक पक्ष में दोष
1-322)	शंका - पदार्थ को सदृश / असदृश के विचार बिना केवल परिणामी मानें तो?
1-336)	वस्तु क्या नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय, जुदी, एकरूप, क्रम, अक्रम ?
1-342)	क्या सत् और परिणाम वर्णों की ध्वनि के समान है?
1-343)	क्या सत् और परिणाम विन्ध्य हिमाचल के समान हैं?
1-344)	क्या सत् और परिणाम सिंह साधु विशेषणों के समान हैं?
1-345)	क्या सत् और परिणाम दो नाम और सव्येतर गोविषाण के समान हैं?
1-346)	क्या सत् और परिणाम कच्ची और पकी हुई पृथ्वी के समान हैं?

1-347)	क्या सत् और परिणाम दो सपत्नियों के समान हैं?
1-348)	क्या छोटे बड़े भाइयों तथा मल्लों के समान हैं?
1-349)	क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओं के समान हैं?
1-350)	क्या कारक द्वैत के समान हैं ?
1-351)	क्या बीजांकुर के समान हैं?
1-352)	क्या सत् और परिणाम कनकोपल के समान हैं?
1-353)	क्या सत् और परिणाम वाच्य-वाचक के समान हैं?
1-354)	क्या सत् और परिणाम नगाड़े-दण्ड के समान हैं?
1-355)	क्या सत् और परिणाम अपूर्ण-न्याय के समान हैं?
1-356)	क्या सत् और परिणाम मित्रों के समान हैं?
1-357)	क्या सत् और परिणाम आदेश (शत्रु) के समान हैं?
1-358)	क्या सत् और परिणाम दूध बिलोने वाली दो रस्सियों के समान हैं?
1-359)	सामान्य उत्तर
1-360)	वर्ण-पंक्ति के दृष्टांत ठीक नहीं
1-361)	प्रमाणाभाव के अभाव में नय भी नहीं ठहरता
1-362-363)	संस्कार-वश पदों में वाक्य प्रतीति मानना भी दोषपूर्ण

1-364)	विन्ध्य हिमालय भी दृष्टान्ताभास है
1-365-366)	सिंह साधु दृष्टान्त में स्वरूपासिद्ध दोष
1-367-373)	अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है
1-376-378)	कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है
1-379-380)	सपत्नीयुग्म दृष्टांत में अनेक दोष
1-381-382)	बड़े छोटे भाई का दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है
1-383-386)	कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है
1-387-388)	बीजांकुर भी दृष्टान्ताभास है
1-389)	उसी को स्पष्ट करते हैं
1-391)	क्षणभेद मानने में दोष
1-392-393)	कनकोपल भी दृष्टांताभास है
1-394-395)	वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है
1-396-397)	भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है
1-398-399)	अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है
1-400-402)	मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है
उत्तरार्द्ध	

2-0002)	सामान्य विशेष मे अन्तर
2-0003)	विशेष द्रव्यों का स्वरूप
2-0004)	जीव अजीव की सिद्धि
2-0005)	जीव सिद्धि में अनुमान
2-0007)	मूर्त तथा अमूर्त द्रव्य का विवेचन
2-0008)	मूर्त की तरह अमूर्त भी यथार्थ है
2-0009)	मूर्त का लक्षण
2-0010)	मूर्त का ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है
2-0011)	अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ?
2-0013)	आत्मा रसादिक से भिन्न है
2-0014)	सुख-दुःखादिक ज्ञान से भिन्न नहीं है
2-0016)	सारांश
2-0017-18)	शंकाकार - सुख दुःख आदि रस के समान अमूर्त हैं ?
2-0021)	निश्चित सिद्धान्त
2-0022)	लोक और अलोक
2-0023)	अलोक का स्वरूप

2-0024)	पदार्थों में विशेषता
2-0025)	भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थों के नाम
2-0026)	क्रिया और भाव का लक्षण
2-0028)	ग्रंथकार की प्रतिज्ञा
2-0029)	सप्त तत्त्वों में ज्ञीव की मुख्यता
2-0030-33)	जीव तत्त्व
2-0034)	संसारी जीव का स्वरूप
2-0035)	जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है
2-0037)	अन्योनयाश्रय दोष
2-0040)	सारांश
2-0041)	जीव की अशुद्धता का कारण
2-0044)	केवल प्रदेशों के सम्बन्ध को बन्ध नहीं कहते हैं
2-0046)	बन्ध के प्रकार
2-0052)	शंका - मूर्तिक का ही मूर्तिक के साथ बंध होता है, अत: जीव-पुद्गल का बंध सम्भव नहीं
2-0063-65)	शंका - ज्ञान स्वाभाविक ही होता है, वैभाविक नहीं
2-0079)	शंका - क्या वैभाविकी शक्ति दो के संयोग में ही होती है ?

2-0083-87)	शंका -- स्वाभाविक तथा वैभाविक दोनों ही शक्तियां स्वतन्त्र रूप से मा तो क्या हानि है ?
2-0092)	वैभाविक और स्वाभाविक को युगपत् मानने में दोष
2-0102)	बद्ध और मुक्त का स्वरूप
2-0103)	बन्ध-भेद
2-0104-105)	उभय-बन्ध
2-0111)	ऐसा होने में भी उभय-बन्ध ही कारण है
2-0112)	बन्ध की अविनाभाविनी अशुद्धता का लक्षण
2-0113)	आत्मा में द्विरूपता किस प्रकार की है
2-0114-115)	शंका - जीव-द्रव्य में सोपाधि और निरुपाधि कल्पना व्यर्थ
2-0121)	अशुद्ध ज्ञान का स्वरूप
2-0122-124)	सोपाधि और निरुपाधि रूप कल्पना के नहीं मानने में दोष
2-0125-127)	अबद्ध और बद्ध ज्ञान
2-0128)	बद्धता और शुद्धता एक ही प्रतीत होते हैं, क्या उनमें अंतर है ?
2-0136)	निश्चय और व्यवहारनय का विषय
2-0142-149)	शंका -- शुद्ध-नय ही कहना चाहिए, व्यवहारनय नहीं
2-0205-208)	अशुद्धोपलब्धि का स्वामी

2-0386-392)	श्रद्धान आदि गुण सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण हैं और वह अनाकार है इसका विचार --
2-0410-418)	श्रद्धा आदि गुण सम्यक्त के सहचारी कब हैं?
2-0419)	शंका -- सम्यक् और मिथ्या श्रद्धा का भेद कैसे ?
2-0426-430)	प्रशम गुण
2-0431-445)	संवेग गुण
2-0446-451)	अनुकंपा गुण
2-0452-459)	आस्तिक्य गुण
2-0460-461)	शंका -- आस्तिक्य भाव स्व-संवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे?
2-0468-469)	उपलक्षण का लक्षण
2-0470-471)	भक्ति और वात्सल्य संवेग के लक्षण
2-0472-476)	निंदा और गर्हा प्रशम-गुण के लक्षण कैसे?
2-0477)	प्रश्न -- क्या प्रकारांतर से भी सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं?
2-0493)	प्रश्न - शंका भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है यह किस युक्ति से जाना जाता है ?
2-0498-499)	शंका -- संज्ञाओं के अस्तित्व में और अनिष्ट अर्थ का संयोग से बचते हुए सम्यग्दृष्टि निर्भीक कैसे ?

2-0503-505)	सात-भय
2-0506-515)	इह-लोक भय
2-0516-523)	परलोक भय
2-0524-530)	वेदना-भय
2-0601-602)	गुरु-मूढ़ता
2-0603-607)	देव का स्वरूप
2-0621-626)	गुरु का स्वरूप
2-0631)	प्रश्न -- कर्म के सद्भाव में छद्मस्थ के शुद्धता कैसे ?
2-0645-652)	आचार्य का स्वरूप
2-0659-665)	उपाध्याय का स्वरूप
2-0666-674)	साधु का स्वरूप
2-0715-722)	धर्म का स्वरूप और उसके भेद
2-0723-729)	ग्रहस्थ धर्म
2-0743-745)	यति-धर्म
2-0774-786)	उपबृहण गुण
2-0787-791)	स्थितीकरण

2-0793-799)	स्वस्थितिकरण का स्वरुप निर्देश
2-0809-818)	प्रभावना गुण
2-0821-830)	सम्यग्दर्शन के निश्चय / व्यवहार या सराग / वीतराग भेद पर स्पष्टीकरण
2-0831-838)	विकल्प का विचार
2-0846)	शंका -- क्या ज्ञान आत्मा से अन्यत्र संक्रांत होता है ?
2-0857)	शंका -- सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में भी क्या उपयोग होता है ?
2-0896)	शंका -- क्या जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उसी के ज्ञान चेतना होती है, क्योंकि जब आत्मा के सिवा किन्हीं बाह्य पदार्थों में ज्ञानोपयोग होता है तब ज्ञानचेतना की क्षति नियम से सिद्ध होती है?
2-0931-0935)	सम्यक्त्व के भेद और उसके कारण
2-0936-0938)	सम्यक्त्व के सद्भाव में होने वाले गुण
2-0939)	शंका -- क्या जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही हैं या उनमें अन्य गुण भी पाये जाते हैं ?
2-0982-0986)	मोहनीय कर्म की व्युत्पत्ति और उसके भेद
2-1000-1007)	ज्ञानावरणी
2-1008-1011)	अनंत गुणों की सिद्धी
2-1012-1013)	अवधि और मनःपर्ययज्ञान

2-1014)	मतिज्ञान और श्रुतज्ञान
2-1015)	चार ज्ञान क्षायोपशमिक
2-1016-1019)	सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान
2-1020-1021)	औदयिक भाव
2-1022)	वैकृत और लौकिक भाव में भेद
2-1023-0125)	वैकृत भाव का खुलासा
2-1034)	शंका -- बंध के साधक का नियम क्या है?
2-1041-1049)	बुद्धि पूर्वक मिथ्यात्व का दृष्टान्त
2-1050-1052)	सारांश -- बंध के हेतु मोहनीय से होनेवाले भाव
2-1053-1055)	कषाय भाव
2-1056-1057)	चारित्र-मोह भेद और कार्य
2-1058-1059)	द्रव्य-कर्म
2-1072-1075)	नोकषाय
2-1076-1080)	लिंग
2-1096-1098)	मिथ्यादर्शन
2-1099-1103)	अज्ञानभाव

2-1117)	प्रश्न -- इन्द्रियों-संयम और प्राणी-संयम क्या है ?
2-1121)	असंयतभाव और कषाय चारित्र-मोहनीय के कार्य होने से एक हैं ?
2-1129)	प्रश्न -- तब चारित्र-मोहनीय के स्पष्टतः छब्बीस भेद होने चाहिये ?
2-1136)	प्रश्न -- अप्रत्याख्यानावरण आदि कर्मों के उदय से देशव्रत आदि का घात कैसे बनेगा ?
2-1138-1140)	असिद्धत्व भाव

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्री

पन्चाध्यायी

मूल संस्कृत गाथा

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले

ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

॥ श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

+ मंगलाचरण और आशय -

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रंथराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥1॥

अन्वयार्थ : पाँच अध्यायों में बंटे हुए जिस ग्रन्थराज को मैं स्वयं बनाने वाला हूं, उस ग्रन्थ-राज के बनाने में जिन महावीर स्वामी के वचन मेरे लिये पदार्थों के प्रकाश करने में मूल कारण हैं, उन महावीर स्वामी (वर्तमान-अन्तिम तीर्थंकर) का मैं स्तवन करता हूं ।

शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि सम्म् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान् मुनीश्वरान् वन्दे ॥2॥

अन्वयार्थ : महावीर स्वामी के सिवाय और भी जितने (वृषभादिक २३) तीर्थंकर हैं। तथा अनादि काल से होनेवाले अनन्त सिद्ध हैं। उन सबको एक साथ मैं नमस्कार करता हूँ। धर्माचार्य , उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियों में विभक्त मुनीश्वरों को भी मैं वन्दना करता हूं ।

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥3॥

अन्वयार्थ : जो जैन शासन (जैनमत) अनादि-अनन्त है। अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है । दोषों से सर्वथा मुक्त है । साथ में खोटे मत रूपी शत्रुओं को अग्नि की तरह जलाने वाला है, वह सदा जयशील बना रहे ।

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसक्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ 4॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार पञ्च परमेष्ठियों की वन्दना करना और मङ्गल रूप श्रेष्ठ क्रिया को करने वाला यह ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थ को बनाने की प्रतिज्ञा करता है ।

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥5॥

अन्वयार्थ : ग्रंथ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कवि का अति विशुद्ध भाव है, तथापि उक्त कारण का भी कारण सब जीवों का उपकार करने वाली श्रेष्ठ बुद्धि है ।

सर्वोपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥6॥

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण जनसमूह धर्म को सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीति से सुनना चाहता है। यह बात सर्व विदित है। इसके लिये हमारी यह (नीचे लिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी ।

+ सामान्य-विशेष वस्तु के कथन की प्रतिज्ञा -

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्याय्यात् ।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥7॥

अन्वयार्थ : **[अनन्यथा न्याय्यात्]** (अविनाभाव) 'एक दूसरे के साथ ही होते हैं' इस न्यायानुसार **[सति धर्मिणि धर्माणां]** धर्मी (द्रव्य) के होने पर उसके धर्म (गुण या पर्याय) की **[मीमांसा स्यात्]** मीमांसा (मनन, विचार) की जा सकती है । इसलिये पहले **[अविशिष्टं वस्तु]** सामान्य वस्तु को **[च]** और **[ततः परं]** उसके बाद **[धर्मविशिष्टं अपि]** धर्मों से विशेषित वस्तु भी **[साध्यं]** सिद्ध करना चाहिये ।

+ सामान्य वस्तु (सत्) -- स्वतःसिद्ध, स्वसहाय, निर्विकल्प और अनादि-निधन -

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम् ।

तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पञ्च ॥8॥

अन्वयार्थ : तत्त्व (वस्तु) सत् लक्षणवाला है, सत् स्वरूप ही है, स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है, अपनी सहायता से ही बनता और बिगड़ता है, और वह निर्विकल्प (एक / अभेद / वचनातीत) भी है ।

+ ऐसा न मानने में ४ दोष -

इत्थं नोचेदसतः प्रादुर्भूति र्निरङ्कुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥9॥

अन्वयार्थ : **[इत्थं नोचेत्]** यदि ऐसा (ऊपर कही हुई रीति से वस्तु का स्वरूप) न माना जावे तो **[असतः प्रादुर्भूति र्निरङ्कुशा भवति]** असत् पदार्थ की बिना किसी बाधा के उत्पत्ति होने लगेगी, **[परतः प्रादुर्भावो]** एक पदार्थ की उत्पत्ति दूसरे पदार्थ से होने लगेगी, **[युतसिद्धत्वं]** पदार्थ, पदार्थ-विशेष के के संयोग से पदार्थ कहलाएगा **[वा]** अथवा **[सतः विनाशः]** सत् के विनाश का प्रसंग आएगा ।

+ असत् पदार्थ की उत्पत्ति में दोष -

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्त्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥10॥

अन्वयार्थ : **[असतः प्रादुर्भावे]** असत् की उत्पत्ति होने पर **[इह]** इसलोक में **[द्रव्याणामिह**

भवेदनन्तत्त्वम्] द्रव्य की उत्पत्ति अनन्तरूप (अमर्यादित) हो जाएगी, और ऐसे में **[मृदाद्यभावेपि]** मिट्टी आदि उपादान कारणों के नहीं होने पर भी **[कुम्भोत्पत्ति]** होनेवाले घट की उत्पत्ति को **[वारयितुं]** निवारण करने के लिए **[क शक्तः]** कौन समर्थ होगा ?

+ पर से सिद्ध मानने में दोष -

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोपि परः ॥11॥

अन्वयार्थ : वस्तु को पर से सिद्ध मानने पर अनवस्था नामक दोष आता है। यह दोष बड़ा दोष है । वह इस प्रकार आता है कि -- वस्तु जब पर से सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थ से सिद्ध होगा | क्योंकि पर-सिद्ध माननेवालों का यह सिद्धान्त है कि हर एक पदार्थ पर से ही उत्पन्न होता है ।

+ युतसिद्ध मानने में दोष -

युतसिद्धत्वेप्येवं गणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्त्वाल्लक्षणभेदः कथं तयो र्भवति ॥12॥

अन्वयार्थ : युतसिद्ध मानने से गुण और गुणी (जिस में गुण पाया जाय) दोनों ही के भिन्न-भिन्न प्रदेश ठहरेंगे । उस अवस्था में दोनों ही समान होंगें । फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा गुण,

गुणी का भिन्न-भिन्न लक्षण नहीं बन सकेगा ।

+ सत् का नाश मानने में दोष -

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोपि वाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथंचिद्-द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥13॥

अन्वयार्थ : अथवा सत् का नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा बाधित है । क्योंकि द्रव्य कथंचित् नित्य है यह बात विशेष जानकारों को प्रत्यक्ष रुप से प्रतीत है ।

+ सारांश -

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा ।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥14॥

अन्वयार्थ : इसलिये अनेक दूषणों से दूषित पक्षों को जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुए लक्षणवाली निर्दोष वस्तु को स्वीकार करे । अर्थात् सत् स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वरूप ही वस्तु को समझे ।

+ सत्ता विचार -

किंचैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु ।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥15॥

अन्वयार्थ : **[किंच इह]** तथा इस लोक में **[एवंभूता सत्ता अपि च]** वस्तु के लक्षणभूत इसप्रकार की सत्ता भी **[निरंकुशा न स्यात्]** निरपेक्ष नहीं हैं **[किन्तु हि]** किन्तु निश्चय से **[स्वप्रतिपक्षेण]** अपने प्रतिपक्ष (असत्) से **[सप्रतिपक्षा भवति]** सप्रतिपक्ष (सापेक्ष, सत्-रूप) है **[इतरेण न]** निरपेक्ष (आकाशकुसुम आदिरूप तुच्छाभाव से सप्रतिपक्ष) नहीं है ।

जिस सत्ता को वस्तु का लक्षण बतलाया है वह सत्ता भी स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । किन्तु अपने प्रतिपक्ष (विरोधी) के कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है । सत्ता का जो प्रतिपक्ष है उसी के साथ सत्ता की प्रतिक्षता है दूसरे किसी के साथ नहीं ।

+ शंकाकार - सत्ता स्वतन्त्र है, उसका कोई प्रतिपक्ष नहीं -

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरङ्कुशा भवतु ।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥16॥

अन्वयार्थ : यहां पर कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है । क्योंकि वह अपने स्वरूप में ही स्थित है । परपक्ष से सर्वथा निरपेक्ष है। अर्थात सत्ता का कोई प्रतिपक्ष नहीं है ।

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि ।

द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥17॥

अन्वयार्थ : शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सत्ता का कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है । दोनों ही नय पक्ष हैं, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वश परस्पर में विपक्षपने को लिये हुए हैं ।

+ शंकाकार - सत्ता की स्वतंत्रता एक नय से सिद्ध -

अत्राप्याह कुदृष्टि र्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षतिर्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥18॥

अन्वयार्थ : यहां पर फिर मिथ्यादृष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होते हैं , तो होओ, हमारी कोई हानि नहीं है । सत्ता की स्वतन्त्र सिद्धि एक नय से ही हो जायगी ।

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥19॥

अन्वयार्थ : शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं हैं । क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनों नयों में से किसी एक नय का लोप करने पर दूसरे नय का भी लोप हो जायगा -- यह दोष उपस्थित होता है ।

+ परस्पर की प्रतिपक्षता -

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नाना रूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥20॥
एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितोर्विपक्षत्वम् ।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥21॥
एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥22॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार और भी है । नाना रूपता एक रूपता का प्रतिपक्ष है ।

एक पदार्थ की सत्ता, समस्त पदार्थों की सत्ता का विपक्ष है । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ता का प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है ।

एक सत्ता का प्रतिपक्ष अनेक है । और अनन्त पर्याय का प्रतिपक्ष एक पर्याय है ।

+ शंकाकर - अखण्ड वस्तु में भेद कल्पना क्यों ? -

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।

भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥23॥

अन्वयार्थ : वस्तु एक अखण्ड द्रव्य है । वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्प भी है । ऐसी वस्तु में भेद का क्या कारण है जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसंगत हो ।

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवाङ्गुलिवितस्तिहस्तादिः ॥24॥
प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥25॥
पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥26॥

अन्वयार्थ : यद्यपि द्रव्य अखण्ड प्रदेश (देशांश) वाला है और बड़ा भी है। तथापि उसमें विस्तार क्रम से अंशों का विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाश में विस्तार क्रम से एक अंगुल, दो अंगुल, एक विलस्त, एक हाथ आदि अंश-विभाग किया जाता है । जिसमें फिर दुबारा अंश न किया जा सके उसे ही निरंश अंश कहते हैं। ऐसे निरंशरूप अंश एक द्रव्य में - पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, संख्यात, अविभागी-असंख्यात, अनन्त, तथा च, शब्द से अनन्तानन्त तक हो सकते हैं । जितने एक द्रव्य में अंश हैं, उतनी ही उस द्रव्य की पर्याय समझनी चाहिये। प्रत्येक अंश को ही द्रव्यपर्याय कहते हैं । क्योंकि द्रव्य में जो अंशों की कल्पना की जाती है, वही पर्यायों का स्वरूप है । द्रव्य की एक समय की पर्याय उस द्रव्य का एक अंश है । इसलिये उन सम्पूर्ण अंशों का समूह ही द्रव्य है । दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि

द्रव्य की जितनी भी अनादि-अनन्त पर्यायें हैं, उन्हीं पर्यायों का समूह द्रव्य है । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की एक समय में एक पर्याय होती है, और कुल समय अनादि अनन्त है, इसलिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अत: उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु-स्वरूप सर्वथा निर्दोष है, और सभी सुव्यवस्थित है । यही वस्तु का स्वरूप प्रमाण से भली भांति सिद्ध है ।

+ शंकाकार - द्रव्य प्रत्यक्ष ही 'एक' दिखता है तो ऊपर कथित अंश-कल्पना क्यों मानी जाय ? -

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥27॥

अन्वयार्थ : ऊपर कही हुई व्यवस्था का तो प्रत्यक्ष नहीं है; केवल एक द्रव्य ही भली-भांति दिख रहा है, इस अवस्था में कौनसा दोष आता है कि जिसके डर से उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक मानी जावे ।

+ उत्तर - उपर्युक्त व्यवस्था न मानने पर द्रव्य को देशहीन या एक-प्रदेशी मानना सदोष -

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रम् वा ॥28॥
तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयसास्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतयिमानत्वात् ॥29॥

किञ्चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोनुमीयेत ।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्वममहत्वम् ॥30॥

अन्वयार्थ : यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्य की सत्ता का ही निश्चय नहीं हो सकेगा । और देशांशों के न मानने पर सर्व द्रव्य एक देशमात्र हो जायगा ।

वस्तु को असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नहीं है । क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है । दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है कि वस्तु को अभाव रूप मानने से वह किसी कार्य को सिद्ध न कर सकेगी । इस प्रकार वस्तु में अंश भेद न मानने से आकाश की महानताका ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

अंश कल्पना से एक तो छोटे बड़े का भेद ज्ञान ऊपर बतलाया गया है । दूसरा अंश कल्पना से यह भी फल होता है कि उससे द्रव्यों में कायत्व और अकायत्वका अनुमान कर लिया जाता है इसी प्रकार छोटे और बड़े का भी अनुमान कर लिया जाता है ।

+ शंकाकार - प्रत्येक निरंश में द्रव्य का लक्षण होने से उन्हें प्रथक-प्रथक द्रव्य ही क्यों न माना जाय ? -

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंदशदेशांशाः
तल्लक्षणयोगादप्पणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥31॥

अन्वयार्थ : शंकाकार कहता है कि यह तुम्हारी विवक्षा रहो, अर्थात् तुम जो द्रव्य में निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सके) अंशों की कल्पना करते हो, वह करो । परन्तु जितने भी निरंश-देशांश हैं उन्हीं को एक एक द्रव्य समझो । जिस प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्य में जितने निरंश-देशांशों की कल्पना की जाती है, उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश

समझो । द्रव्य का लक्षण उन प्रत्येक अंशों में जाता ही है ।

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः ।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥32॥
प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥33॥
तदसत्प्रमाणवाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥34॥
प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥35॥

अन्वयार्थ : उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एकदेश वस्तु मानने से और अखंड स्वरूप अनेक देश वस्तु मानने से परिणमन में बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रत्यक्ष है ।

पहला पक्ष स्वीकार करने से अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य मानने से जो गुणों का परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तु में न होकर उसके एक ही देशांश में होगा । क्योंकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तु को समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणों का परिणमन एक देश में ही होगा ।

गुणों का परिणमन एक देश में होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता । इन्द्रियजन्य ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि शरीर के एक देश में

स्पर्श होने से सम्पूर्ण शरीर में रोमान्च हो जाते हैं ।

दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप द्रव्य मानने पर जो परिणमन होगा वह सर्व देश में (सम्पूर्ण वस्तु में) होगा। जिस प्रकार एक बेंत को एक तरफ से हिलाने से सारा बेंत हिल जाता है ।

+ एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है -

एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा ।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥36॥
न स्याद्द्रव्यम् क्वचिदपि बहु प्रदेशेषु खण्डितो देशः ।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥37॥

अन्वयार्थ : कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है अर्थात् अखण्ड एक प्रदेशी भी कोई द्रव्य है, जैसे पुद्गल का शुद्ध परमाणु और कालाणु । ये भी स्वतः सिद्ध द्रव्य हैं ।

परन्तु ऐसा द्रव्य कोई नहीं है कि बहु प्रदेशी होकर खण्ड-एक देश रूप हो इसलिये बहु प्रदेशवाला द्रव्य अखण्डरूप है ।

+ द्रव्य और गुण -

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः ।

अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥38॥

अन्वयार्थ : ऊपर जिन देशांशों (प्रदेशों) का वर्णन किया गया है । वे देशांश गुण सहित हैं । गुण सहित उन्हीं देशांशों की द्रव्य संज्ञा है। उन देशांशों में रहने वाले जो विशेष हैं उन्हीं की गुण संज्ञा है ।

+ गुण, गुणी से जुदा नहीं है, दृष्टांत -

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषेश्च तादृशो देशः ॥39॥
अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥40॥

अन्वयार्थ : उन गुणों का समूह ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है । वे गुण देश से भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देश में गुण (विशेष) रहते हैं किन्तु उन विशेषों (गुणों) के मेल से ही वह देश कहलाता है ।

गुण और गुणी में अभेद है, इसी विषय में तन्तु (डोरे) का दृष्टान्त है । शुक्ल गुण आदि का शरीर ही तन्तु है । शुक्लादि गुणों को छोड़कर और कोई वस्तु तंतु नहीं है और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि तन्तु में शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि गुणों के एकत्रित होने से ही तन्तु बना है ।

+ शंकाकार - देश और देशांशों को भिन्न और युतसिद्ध क्यों न माना जाय ? -

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥41॥

अन्वयार्थ : यदि देश को भिन्न समझा जाय और देश के आश्रित रहने वाले विशेषों को भिन्न समझा जाय, तथा उन सबके संयोग से द्रव्य कहलाने लगे । जिस प्रकार पुरुष भिन्न है, दण्ड (डंडा) भिन्न है, दोनों के संयोग से दण्डी कहलाने लगता है तो -

नैवं हि सर्वसङ्कर दोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥42॥
अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तेरण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥43॥
अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेपि ।
कथमिवगुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥44॥
तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथंचित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥45॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है । देश को भिन्न और गुणों को देशाश्रित भिन्न

स्वीकार करने से सर्व संकर दोष आवेगा । यह बात सुघटित दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणों को भिन्न मानने से क्या चेतना गुण के सम्बन्ध से अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नहीं हो जायगा ?

दूसरी बात यह भी है कि बिना गुणों के द्रव्य के प्रदेशों की सत्ता ही नहीं जानी जा सकती अथवा बिना प्रदेशों के गुण भी नहीं जाने जा सकते ।

यदि हठ पूर्वक बिना किसी हेतु के गुण और गुणी भिन्न भिन्न सत्तावाले ही माने जावें, तो ऐसी अवस्था में दोनों की सत्ता समान होगी । सत्ता की समानता में 'यह गुण है और यह गुणी है,' यह कैसे जाना जा सकता है ?

इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश-विशेष ही गुण कहलाते हैं । गुणों में गुण नहीं रहते हैं । वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं परन्तु सर्वथा विनाशी नहीं हैं ।

+ शंकाकार - गुण-गुणी में सर्वथा अद्वैत क्यों न माना जाय ? -

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निवन्धनं त्वितिचेत् ॥46॥

अन्वयार्थ : गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोनों ही भिन्न सत्तावाले नहीं हैं । यहां पर अभिन्न सत्ता रूप हेतु से गुण, गुणी में एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी क्या कारण कि अखण्ड पिण्ड होने पर भी द्रव्य में द्वैत भावसा प्रतीत होता है ?

यत्किंचिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।

अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥47॥
शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥48॥
देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥49॥
स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले ।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेपि ॥50॥
तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः ।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रम् वा न कश्चिदितरश्च ॥51॥
एवं यः कोपि गुणः सोपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥52॥

अन्वयार्थ : जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण-स्वरूप) में स्थित है और वह स्वभाव भी निश्चय से उस स्वभावी (वस्तु) से अविनाभावी-अभिन्न है परन्तु विवक्षा वश भिन्न समझा जाता है ।

शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति ये सभी शब्द एक अर्थ के कहने वाले हैं । सभी नाम गुण के हैं ।

देश की कोई भी एक शक्ति, दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, इसी प्रकार क्रम से प्रत्येक शक्ति के

विषय में विचार करने पर भिन्न-भिन्न अनन्त शक्तियां स्पष्ट प्रतीत होती हैं ।

जिस प्रकार आम के फल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों ही एक साथ पाये जाते हैं, वे चारों ही गुण भिन्न-भिन्न नियत इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं इसलिये वे भिन्न हैं ।

सभी गुण पृथक्-पृथक हैं, इस विषय में यह उदाहरण है- जैसे जीव द्रव्य में जो एक दर्शन नामा गुण है, वह ज्ञान नहीं हो सकता , न सुख हो सकता, न चारित्र हो सकता अथवा और भी किसी गुण स्वरूप नहीं हो सकता, दर्शनगुण सदा दर्शनरूप ही रहेगा ।

इसी प्रकार जो कोई भी गुण है वह दूसरे गुण रूप नहीं हो सकता इसलिये द्रव्य की अनन्त शक्तियां परस्पर भिन्नता को लिये हुए भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा स्वयं उदित होती रहती हैं ।

+ गुणों में अंशविभाग, पुद्गल और जीव का उदाहरण -

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥53॥
दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोपि शुक्लतरम् ।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥54॥
अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोप्यखण्डोपि ।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोप्यनेकः स्यात् ॥55॥

अन्वयार्थ : उन शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति के अनन्त अनन्त निरंश (जिसका फिर अंश न हो सके) अंश होते हैं । हीनाधिक विशेष भेद से उन अंशों का परिज्ञान होता है ।

एक सफेद कपड़े का सुगम दृष्टान्त है। कोई कपड़ा कम सफेद होता है, कोई उससे अधिक सफेद होता है और कोई उससे भी अधिक सफेद होता है। ये सब सफेदी के ही भेद हैं । इस प्रकार की तरतमता (हीनाधिकता) अनेक प्रकार हो सकती है, इसलिये शुक्ल गुण के अनेक (अनन्त) अंश कल्पित किये जाते हैं ।

दूसरा दृष्टान्त जीव के ज्ञान गुण का स्पष्ट है । जीव का ज्ञान गुण यद्यपि एक है और वह अखण्ड भी है तथापि सबसे जघन्य अंशों के भेद से खण्डित सरीखा अनेक रूप प्रतीत होता है ।

+ गुणों के अंशों में क्रम -

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य ।
विष्कंभस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ॥56॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार देश के छेद (देशांश) होते हैं, उस प्रकार गुणों के छेद नहीं होते । देश के छेद विष्कंभ (विस्तार-चौड़ाई) क्रम से होते हैं और देश एक मोटा पदार्थ है । गुण इस प्रकार का नहीं है और न उसके छेद ही ऐसे होते हैं किन्तु तरतम रूप से होते हैं ।

+ गुणों का छेदक्रम -

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ॥57॥

एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेतुमशक्यो यः कोपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥58॥
तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥59॥

अन्वयार्थ : गुणों के अशों के छेद करने में क्रम कथन का उपदेश बतलाते हैं कि गुण स्वभाव से ही प्रवाह रूप है अर्थात् द्रव्य अनन्तगुणात्मक पिण्ड के साथ बराबर चला जाता है। द्रव्य अनादि-अनंत है, गुण भी अनादि-अनन्त हैं । द्रव्यके साथ गुण का प्रवाह बराबर चला जाता है। वह गुण उसके अर्धच्छेदों से छिन्न भिन्न करने योग्य है अर्थात् उस गुण के आधे आधे छेद करना चाहिये, इसी प्रकार बार बार उसके अर्धच्छेद करना चाहिये, तथा वहां तक करना चाहिये जहां तक कि कोई भी गुण का अंश फिर न छेदा जा सके, और वह निरंश समझा जाय । उन छेदरूप किये हुए गुणों के अंशों का जोड़ अनन्त होता है । उन्हीं अंशों का समूह गुण कहलाता है। गुणों के अंश, गुण से भिन्न सत्ता नहीं रखते हैं किन्तु उन अंशों का समूह ही एक सत्तात्मक गुण कहलाता है ।

+ पर्याय के पर्यायवाचक शब्द -

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्चेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥60॥

अन्वयार्थ : अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग, ये सब शब्द एक अर्थ के वाचक हैं । सबों का अर्थ पर्याय है ।

+ गुणांश ही गुणपर्याय है -

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥61॥

अन्वयार्थ : जितने भी गुणांश हैं वे ही गुणपर्याय कहलाते हैं । यह बात अविरुद्ध सिद्ध है कि अंश स्वरूप ही पर्यायें होती हैं ।

+ गुण-पर्याय और द्रव्य-पर्याय के नामान्तर -

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥62॥
अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि ।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥63॥

अन्वयार्थ : कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायों का दूसरा नाम भी कहते हैं । गुण और अर्थ , ये दोनों ही एक अर्थ वाले हैं इसलिये गुण पर्याय को अर्थपर्याय भी कह देते हैं ।

देशांशों के द्वारा जिन द्रव्य-पर्यायों का ऊपर निरूपण किया जा चुका है, उन द्रव्य-पर्यायों को कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जन-पर्याय, इस नाम से पुकारते हैं ।

+ शंका -- द्रव्य या पर्याय में से एक के कथन के बाद दूसरे का कथन करना क्या निष्फल नहीं है ? -

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥64॥

अन्वयार्थ : ऊपर जितना भी कहा गया है, सभी पिष्ट-पेषण है अर्थात् पीसे हुए को पीसा गया है । एक के कहने से ही काम चल जाता है, या तो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये । द्रव्य और पर्याय को जुदा-जुदा कहना निष्फल है ?

तन्नैवं फलवत्त्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्त्वात् ॥65॥

अन्वयार्थ : ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है । द्रव्य और पर्याय दोनों का ही निरूपण आवश्यक है । द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है । पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है । इस बात की प्रतीति दोनों के कथन से ही होती है ।

+ नित्यता और अनित्यता का दृष्टान्त -

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।

अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥66॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणों का समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओं को प्रति-क्षण बदलता रहता है । अवस्थाओं के बदलने पर भी शुक्लादि गुणों का नाश कभी नहीं होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है । साथ ही शुक्लादिगुणों के तरतम रूप अंशों की अपेक्षा से अनित्य भी है । क्योंकि एक अंश (पर्याय) दूसरे अंश से भिन्न है।

+ दूसरा जीव का दृष्टान्त -

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥67॥

अन्वयार्थ : आत्मा में ज्ञान गुण सदा रहता है। यदि ज्ञान गुण का आत्मा में अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय । इसलिये उस गुण की अपेक्षा से तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुण के निमित्त से आत्मा का परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुण के अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं, उस ज्ञान में सदा हीनाधिकता (संसारावस्था में) होती रहती है, इस हीनाधिकता के कारण आत्मा कथंचित अनित्य भी हैं ।

+ आशंका -

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम् ।

यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत् क्षणिकम् ॥ 68॥

अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥69॥

अन्वयार्थ : यदि ऊपर कही हुई द्रव्य, गुण, पर्याय की व्यवस्था न मानी जाय, और गुणांश की तरह निरंश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरंश द्रव्य को परिणामी न मानकर कूटस्थ (लोहे का पीटने का एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारों के यहां गढ़ा रहता है) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्य को सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्य के अनन्त निरंश अंश मानकर उन अंशों का समान रूप से परिणमन माना जाय, तरतम रूप से न माना जाय तब क्या दोष होगा ?

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टम् दृष्टवाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्य दृष्टान्तात् ॥70॥

अन्वयार्थ : ऊपर कहे हुए चारों ही विकल्प दोष सहित हैं, चारों ही विकल्पों में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधा आती है । तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धि में कोई दृष्टान्त ही है ।

+ द्रव्य-लक्षण-उपक्रम -

द्रव्यत्त्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणम् तस्य ॥71॥

अन्वयार्थ : किसी ने आचार्य से पूछा कि महाराज ! द्रव्य क्या पदार्थ है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्य का प्रमाण और सुनयों द्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे ।

+ द्रव्य का लक्षण -

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥72॥
गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥73॥
अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निश्शेषम् ॥74॥
नहि किंचित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपातादा ॥75॥

अथवापि यथा भित्तौ चित्रम् द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्त्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥76॥

अन्वयार्थ : जिसमें गुण पर्याय पाये जाय, वह द्रव्य है । यह द्रव्य का लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है । इस लक्षण में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है । 'गुण पर्याय जिसमें पाये जाये वह द्रव्य है' इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायों का समुदाय ही द्रव्य है ।

कोई-कोई बुद्धिधारी 'गुण समुदाय ही द्रव्य है' ऐसा भी द्रव्य का लक्षण कहते हैं । कोई विशेष अनुभवी वृद्ध पुरुष समान रीति (साथ-साथ) से होनेवाली गुणों की पर्यायों को ही द्रव्य का लक्षण बतलाते हैं ।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जो देश हैं, उन देशों में रहने वाले जो गुण हैं तथा उन गुणों के जो अंश हैं उन तीनों की ही एक आलाप (एक शब्द द्वारा) से द्रव्य संज्ञा है ।

ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अंश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलाप से द्रव्य कहलाता हो ।

अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्ति में चित्र खिंचा रहता है अर्थात् जैसे भीति में चित्र होता है वह भित्ति में रहता है परन्तु भित्ति से जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्य में प्रदेश, गुण, अंश रहते हैं और समवाय सम्बन्ध से उनका आश्रय द्रव्य है ।

+ उदाहरण -

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥77॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार जड़, स्कन्ध (पेड़) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, सभी को मिलाकर एक आलाप (एक शब्द) से वृक्ष कहते हैं | वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदि से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्ष को छोड़कर शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांश का समूह ही द्रव्य है । द्रव्य से भिन्न न तो देशादिक ही हैं, और देशादि से भिन्न न द्रव्य ही है ।

+ कारक और आधाराधेय की भिन्नता-अभिन्नता दृष्टांत सहित -

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्य ॥78॥
भिन्नोप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रम् यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥79॥
दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः ।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥80॥

अन्वयार्थ : यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं । यहां गुण समदायरूप द्रव्य की सिद्धि में अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये । खुलासा आगे किया जाता है ।

आधाराधेय की भिन्नता का दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे भित्ति में चित्र होता है अथवा घडे में दही रखा है । भित्ति भिन्न पदार्थ है और उस पर खिंचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है । इसी प्रकार घट दूसरा

पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है, इसलिये ये दोनों ही दृष्टान्त आधाराधेय की भिन्नता में है । भिन्न कारक का दृष्टान्त इस प्रकार है -जैसे कोई आदमी धन के निमित्त से धनवाला कहलाता है । यहां पर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है। धन और पुरुष का स्व-स्वामि सम्बन्ध कहलाता है । यह स्व-स्वामि सम्बन्ध भिन्नता का है ।

आधार-आधेय की अभिन्नता में दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे वृक्ष में शाखा अथवा घर में खम्भा । कारक की अभिन्नता में दृष्टान्त इस प्रकार है जैसे- यह वृक्ष शाखावाला है ।

+ शंकाकार - गुण और द्रव्य सर्वथा एकार्थक, गुण-समुदाय ही मानना चाहिए, द्रव्य नहीं -

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ॥81॥

अन्वयार्थ : समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं । ऐसी अवस्था में गुण समुदाय ही कहना चाहिये । द्रव्य के कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ?

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्त्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्ध दृष्टान्तात् ॥82॥
स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।

कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥83॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियम से समुदायी का होता है । यह बात प्रसिद्ध प्रमाण से सिद्ध की हुई है और प्रसिद्ध दृष्टान्त से भी यह बात सिद्ध होती है ।

यद्यपि आम के फल में स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि इनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं तथापि सभी अखण्डरूप से एकरूप हैं किसी प्रकार जुदे-जुदे नहीं किये जा सकते ।

+ सारांश -

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्त्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥84॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त कथन से यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथन की अपेक्षा से देश, गुण, पर्याय सभी जुदे-जुदे हैं । और सामान्य कथन की अपेक्षा से वे ही सब द्रव्य कहलाते हैं ।

+ विशेष लक्षण कहने की प्रतिज्ञा -

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्ष्यन्ति बुधाः ॥85॥

अन्वयार्थ : 'गुण पर्ययद्द्रव्यम्' इसी एक लक्षण को निर्बाध प्रतीति के लिये वाक्यान्तर (दूसरी रीति से) द्वारा विशेष रीति से भी बुद्धिमान कहते हैं ।

+ द्रव्य का लक्षण -

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥86॥

अन्वयार्थ : पहले जो द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है वह सत् उत्पाद, स्थिति, भंग, इन तीनों से सहित ही द्रव्य का लक्षण है । इतना विशेष है कि इन तीनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न काल में नहीं होता है, किन्तु एक ही काल में होता है ।

+ उसी का स्पष्टार्थ -

अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः ।
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥87॥

अन्वयार्थ : इस प्रकरण का यह अर्थ है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों ही अंश, एक सत् गुण के हैं इसलिये इन तीनों को ही समुदाय रूप से सन्मात्र कह देते हैं और क्रम से वे तीनों ही जुदे-जुदे अनेक हैं ।

+ सत् गुण भी है और द्रव्य भी है -

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥88॥

अन्वयार्थ : लक्ष्य और लक्षण की भेद विवक्षा से तो सत् गुण ही है परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से वही सत् स्वयं द्रव्य स्वरूप है ।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥89॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार वस्तु अनादिनिधन स्वतः सिद्ध अविनाशी है उसी प्रकार परिणामी भी है इसलिये उत्पाद, स्थिति, भंग स्वरूप नियम से सत् (द्रव्य) है ।

+ वस्तु को परिणामी न मानने में दोष -

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्त्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥90॥

अन्वयार्थ : यदि बिना परिणाम के ही वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप माना जाय तो असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश अवश्यंभावी होगा ।

द्रव्यं ततः कथंचित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद् द्वितयं हि वस्तुतया ॥91॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त कथन से द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इसलिये वह किसी अवस्था से कथंचित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्था से कथंचित् नष्ट भी होता है । वस्तु स्थिति से उत्पत्ति और नाश, दोनों ही वस्तु में नहीं होते ।

+ उत्पादादि त्रय के उदाहरण -

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद् द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥92॥

अन्वयार्थ : वस्तु घटरूप से उत्पन्न होती है, पिण्ड रूप से नष्ट होती है, मृत्तिका रूप से स्थिर है। ये तीनों ही अवस्थायें एक ही काल में होती हैं परन्तु एक रूप नहीं है ।

+ शंकाकार - परिणाम-परिणामी मानना कल्पना मात्र, इसमें कोई फ़ायदा / नुकसान नहीं -

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिंचित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥93॥

अन्वयार्थ : शंकाकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्यर्थ है ।

उत्पादादि त्रय के मानने से न तो कोई गुण ही है और इसके न मानने से कोई हानि भी नहीं दीखती ?

+ उत्तर - परिणाम-परिणामी मानने में लाभ, न मानने में दोष -

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥94॥
परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥95॥
पारिणामिनोप्यभावत् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥96॥

अन्वयार्थ : शंकाकार की उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप वस्तु को मानने से ही लाभ है उसके न मानने में कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत द्रव्य, परलोक कार्य कारण आदि पदार्थों की शून्यता का प्रसंग आने से हानि है ।

परिणाम के न मानने से द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा । उस अवस्था में परलोक कार्य, कारण आदि कोई भी नहीं ठहर सकता ।

यदि परिणामी को न माना जाय तो वस्तु क्षणिक-केवल परिणाम मात्र ठहर जायगी और यह बात बनती नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की कथंचित् नित्य रूप से भी प्रतीति होती है ।

+ शंका -- 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' और 'सद्द्रव्यलक्षणम्' दोनों लक्षण क्या एक दूसरे के बाधक नहीं है? -

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥97॥

अन्वयार्थ : पहले द्रव्य का लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' यह कहा गया है और अब वाक्यान्तर के द्वारा 'सद्द्रव्य लक्षणम्' यह कहा जाता है । तथा सत् को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त बतलाया जाता है । इसलिये उस लक्षण में इस लक्षण से बाधा आती है ।

तन्न यतः सुविचारादेकोर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥98॥

अन्वयार्थ : दोनों लक्षणों में विरोध बतलाना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह विचार करने से दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है । फिर भी शंकाकार कहता है कि जब दोनों लक्षणों का एक ही अर्थ है तो फिर दोनों के कहने की क्या आवश्यकता है, दोनों में से कोई सा एक कह दिया जाय ? आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा भी नहीं है कि दोनों में से एक ही कहा जाय, किन्तु दोनों ही मिलकर अभिव्यञ्जक (वस्तु-प्रदर्शक) हैं ।

तद्दर्शनम् यथा किल नित्यत्त्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।

गुणवद्द्रव्यम् च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥99॥

अन्वयार्थ : दोनों लक्षणों के विषय में खुलासा इस प्रकार है कि नित्यता और गुण की व्याप्ति है अर्थात् गुण कहने से नित्यपने का बोध होता है इसलिये 'गुणवान् द्रव्य है' ऐसा कहने से ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है ।

अपि च गुणाः संलक्ष्यास्तेषामिह लक्षणम् भवेत् ध्रौव्यम् ।
तस्माल्लक्ष्यम् साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रिसद्धत्वात् ॥100॥

अन्वयार्थ : दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि गुण लक्ष्य हैं, ध्रौव्य उनका लक्षण है इसलिये यहां पर लक्ष्य को साध्य बनाया जाता है और लक्षण को साधन बनाया जाता है ।

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः ।
इत्युक्ते पर्ययवद् द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥101॥
लक्ष्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥102॥

अन्वयार्थ : उसी तरह यहां पर पर्यायों की नियम से व्यय और उत्पाद के साथ व्याप्ति है इसलिए पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा कहने पर उत्पाद-व्यय वाला द्रव्य सिद्ध होता है ।

दूसरे पर्यायें लक्ष्य के स्थानापन्न और स्वभाववान् प्राप्त होती हैं तथा उनके लक्षण और स्वभाव के स्थानावन्न व्यय और उत्पाद प्राप्त होते हैं ।

अथ च गुणत्वं किमहो उक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितमिव लक्ष गणानां हि ॥103 ॥
द्रव्याश्रया गुणाःस्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥104॥
अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।
ते ज्ञानेन विभक्ता: क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥105॥
दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।
बुद्-ध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥106॥
नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः ।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो वहवः ॥107॥
जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।

ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥108॥
तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥109॥
ज्ञानं परिणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या ।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥110॥
दृष्टान्तः किल वर्णो गणो यथा परिणमन् रसालफले ।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं नष्टमिति नित्यम् ॥111॥
वस्तु यथा परिणामि तथैत्र परिणामिनो गुणाश्चापि ।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गणानां तु ॥112॥
ज्ञानं गुणों यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः ।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाऽथ पटं परिच्छन्दत् ॥113॥
संदृष्टि रूपगुणो नित्यश्चाम्रेऽपि वर्गणामात्रतया ।
नष्टोत्पन्ने हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥114॥

अन्वयार्थ : किसी भव्य द्वारा गुण का क्या रवरूप है ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य ने भले प्रकार से जानकर उदाहरण सहित गुणों का लक्षण कहा ॥१०३॥

जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं अन्य विशेषों से रहित हैं ऐसे जितने भी विशेष हैं वे सब गुण कहलाते हैं क्योंकि इनके द्वारा वस्तु हथेली पर रखी हुई के समान स्पष्ट प्रतीत होती है ॥१०४॥

इसका स्पष्टार्थ यह है कि द्रव्य के सभी प्रदेशों में साथ-साथ रहनेवाले और ज्ञान के द्वारा विभाग करके क्रम से एक पंक्ति में स्थापित किये गये जितने भी विशेष हैं वे सब गुण जानने चाहिये ॥१०५॥

जैसे कि सब तन्तुओं में साथ-साथ रहनेवाले ओर बुद्धि के द्वारा विभाग करके क्रम से एक पंक्ति में स्थापित किये गये जितने भी शुक्ल आदि विशेष प्राप्त होते हैं, वे सब गुण जानने चाहिये ॥१०६॥

गुणों की नित्यता और अनित्यता के विषय में सहमत न होने के कारण वादी लोग आपस में प्राय: कर बहुत विवाद करते हैं, इसलिये यहां पर उनकी नित्यानित्यता का विचार करना आवश्यक है ॥१०७॥

इस विषय में जैनों का यह मत है कि -- जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है वैसे ही गुण भी द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्यानित्य होते हैं ॥१०८॥

इसका खुलासा यह है कि अपने स्वभाव का नाश न होने के कारण गुण नित्य हैं और इसकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञान से होती है । प्रकृत में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण है जैसे 'वही यह है' ॥१०९॥

उदाहरणार्थ -- जो ज्ञान पहले घट के आकार रूप से परिणमन कर रहा था वह यद्यपि पट के आकाररूप से बदल जाता है, तो क्या यहां ज्ञानत्व नष्ट हो जाता है ? यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता है तो फिर वह नित्य क्यों न सिद्ध होगा ? ॥११०॥

या जैसे आम्रफल में रंग परिणमन करता हुआ हरे से पीला हो जाता है, तो क्या इससे वर्णसामान्य का नाश हो जाता है ? इसलिये वह नित्य है ॥१११॥

तथा जैसे वस्तु परिणमनशील है वैसे ही गुण भी परिणमनशील हैं इसलिये गुणों में उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं ॥११२॥

क्योंकि जैसे ज्ञान यह गुण सामान्यरूप से नित्य है वैसे ही वह घट को छोड़कर पट को जानता हुआ नष्टोत्पन्न (अनित्य) भी है ॥११३॥

उदाहरणार्थ -- रूप नाम का गुण आम्रफल में भी सामान्य वर्ण की अपेक्षा नित्य है फिर भी वह हरे से पीला हो जाता है इसलिये अनित्य भी है ॥११४॥

+ शंका -- गुणों को पर्याय के समान नित्यानित्यात्मक क्यों कहा है ? -

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्यया: सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मकाः गुणाः प्रोक्ताः ॥ 115॥

अन्वयार्थ : जब कि गुण नित्य होते हैं और सभी पर्यायें अनित्य होती हैं तब फिर यहां पर गुणों को पर्याय के समान नित्यानित्यात्मक क्यों कहा है ?

सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये ।
न गुणेभ्य: प्रथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्यायाश्चेति ॥116॥
अपि नित्या: प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥117॥

अन्वयार्थ : उपयुक्त कथन किसी अपेक्षा से ठीक है फिर भी द्रव्य के समान गुणों में भी यही बात विवक्षित है कि सत् अथवा द्रव्य और पर्याय ये गुणों से सर्वथा प्रथक् नहीं हैं; इसछिये द्रव्य के समान गुण भी कथंचित नित्यानित्य प्राप्त होते हैं ॥११६॥

दूसरे गुण नित्य हैं तो भी वे बिना प्रयत्न के (स्वभाव से) ही प्रति-समय परिणमन करते रहते हैं; वह

परिणमन उनकी ही अवस्था है उनसे जुदी नहीं है इससे भी गुणों की नित्यानित्यता सिद्ध होती है ॥११७॥

+ शंका -- गुण नित्य और परिणाम अनित्य किन्तु इनके मध्य में रहनेवाला द्रव्य इनसे भिन्न है? -

ननु तदवस्थो हि गुण: किल तदवस्थान्तरं हि परिणाम: ।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥118॥

अन्वयार्थ : गुण तो सदा एक-सा रहता है और परिणाम सदा बदलता रहता है किन्तु इन दोनों के मध्य में रहनेवाला होने के कारण द्रव्य इनसे भिन्न है, यदि ऐसा माना जाय तो क्या हानि है ?

तन्न यतः सदवस्था: सर्वा आम्रेड़ितं यथा वस्तु ।
न तथा ताभ्य: प्रथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥119॥
नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एवं गुणा: ।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपतवात् ॥120॥
न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाश: ।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद्-द्वयाधारम् ॥121॥

दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि ।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥122॥
तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि ।
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥123॥

अन्वयार्थ : सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि सत् की सर्व अवस्थाएं आम्रेडित (वही-वही) होकर जैसे वस्तु कहलाती हैं, वैसे उनसे प्रथक् (भिन्न) सत्तावाली दूसरी वस्तु नहीं है ॥११९॥

अतएव जितने भी गुण हैं वे सभी परिणमनशील होने से जिसप्रकार उत्पाद-व्ययस्वरूप हैं उसी प्रकार टंकोत्कीर्ण न्याय से अपने स्वरूप में स्थिर रहने के कारण वे नित्य भी हैं ॥१२०॥

किन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है कि किन्हीं गुणों का सर्वथा नाश होता है और दूसरे गुणों का उत्पाद होता है तथा द्रव्य उन दोनों प्रकार के गुणों का आधार है ॥१२१॥

जो गुणों का नाश और उत्पाद मानते है उनके उक्त कथन की पुष्टि में यह कहना कि 'मिट्टी में पहले गुण तो नष्ट हो जाते हैं और पाकज दूसरे गुण उत्पन्न होते हैं', दृष्टान्ताभास है ॥१२२॥

इसका समीचीन उत्तर यह है कि उस मिट्टी के पकते समय क्या उसके मिट्टीपने का नाश हो जाता है ? यदि मिट्टीपने का नाश नहीं होता है तो उस समय वह पृथ्वीत्व गुणवाली क्यों न मानी जाय ? ॥१२३॥

+ शंका -- द्रव्य-रूप देश नित्य है इसकी अपेक्षा से ही ध्रौव्य है, गुण-रूप विशेष अनित्य हैं, उनकी अपेक्षा से ही उत्पाद-व्यय हैं ? -

ननु केवलं प्रदेशाद्द्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु ।

गुणसंज्ञका हि तस्मान्द्रवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥124॥
तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये ।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥125॥

अन्वयार्थ : केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं और देश के आश्रय से रहनेवाले विशेष ही गुण कहलाते हैं, अत: गुणों से द्रव्य भिन्न सिद्ध होता है ।

इसलिये उत्पाद, व्यय और धौव्य ये तीनों जैसे द्रव्य में अच्छी तरह से घट जाते हैं वैसे पृथक्-पृथक् गुणों में या मिले हुए सब गुणों में नहीं घट सकते हैं ।

तन्न यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद्गुणानां हि ।
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥126॥
अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः ।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥127॥
तदसद्यतः प्रमाणदृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः ।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥128॥
अंथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।

तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समंन्यायात् ॥129॥
अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोऽपि सोऽपि गुणः ॥130॥
तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥131॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा लक्षण मानने से गुणों में क्षणिकता की आपत्ति प्राप्त होती है । और वह क्षणिकपना प्रत्यभिज्ञान का विरोधी है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा जाता है ।

दूसरे इस मान्याता के अनुसार द्रव्य में एक समय में एक ही गुण होगा और उसके नाश होने के बाद उसमें कोई दूसरा गुण उत्पन्न होगा । एक साथ उसमें अनेक गुण नहीं पाये जायंगे ।

परंतु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पक्ष प्रमाण और दृष्टान्त दोनों से बाधित है । जैसे कि आम के फल में एक साथ वर्णादि अनेक गुण पाये जाते हैं ।

अब यदि इन दोषों के भय से तुम्हारा यह मत हो कि गुण नित्य और परिणामी हैं तो फिर इनमें एक साथ उत्पादादि त्रय होते हैं ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ।

और शंकाकार द्वारा पहले जो यह कहा गया था कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो उन प्रदेशों में जो प्रदेशत्त्व नामक शक्ति विशेष है सो वह भी एक गुण है ।

इसलिये पूर्वाचार्यों ने जो गुणों के समुदाय को द्रव्य कहा है वह ठीक ही कहा है । इसका सारांश यह है कि यदि देश अर्थात् द्रव्य का विभाग किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे ।

+ शंका -- गुण=पर्याय ही कहना चाहिए, द्रव्य-पर्याय नहीं -

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्याः केचित् ॥132॥

अन्वयार्थ : यदि गुणों का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है तो द्रव्य में जितनी भी पर्यायें होंगी वे सब नियम से गुणपर्याय ही कही जानीं चाहिये, द्रव्य पर्याय किसी को भी नहीं कहना चाहिये ।

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेऽपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥133॥

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पन्दलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवा निरंशांशैः ॥134॥

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥135॥

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यभिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥136॥

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥137॥
तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोऽपि चान्वयिनः ।
अर्थाच्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥138॥
सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥139॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गुणत्व धर्म की अपेक्षा यद्यपि सब गुण गुण हैं तो भी उनमें विशेषता है । जैसे उनमें कोई चेतन गुण हैं और कोई अचेतन गुण हैं; वैसे ही वे क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति के भेद से भी दो प्रकार के हैं ।

उनमें से प्रदेश को या देश परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं और शक्ति विशेष को या अविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा होनेवाले उनके परिणाम को भाव कहते हैं ।

इसलिये जितने देश रूप अवयव होते हैं, उतने द्रव्य पर्याय कहलाते हैं और जितने गुणांश होते हैं, उतने गुण-पर्याय कहे जाते हैं ।

इसलिये पहले जो यह कहा गया है कि गुणों में उत्पाद, व्यय और धौव्य ये तोनों होते हैं सो देश परिस्पंद प्रदेशों के आश्रित होने से यहां प्रदेश को भी क्रिया कहा गया है । यह सब कथन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होने से निर्दोष है ।

अब यहाँ पर दूसरे शब्दों में गुण का लक्षण कहते हैं । जैसे कि आत्मा, चिदात्मा और ज्ञानात्मा ये तीनों पर्याय-वाचक शब्द हैं वैसे ही यह दूसरे शब्दों में कहा जाने वाला गुण का लक्षण भी उसी अर्थ को व्यक्त करता है जिसका कि पहले कथन कर आये हैं ।

गुण का वह लक्षण दुसरे शब्दों में इस प्रकार है कि -- गुण, सहभू, अन्वयी और अर्थ ये सब

शब्द एकार्थक हैं अर्थात् ये एक अर्थ के वाचक हैं ।

सह, सार्धं और समं इन तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है, इसलिये उक्त शब्दों में से सहभू शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ 'जो एक साथ हैं' है । तात्पर्य यह है कि गुण युगपत् हैं पर्यायों के समान क्रम-क्रम से अर्थात् एक के बाद दूसरा इत्यादि क्रम से नहीं होते हैं ।

+ शंका--सहभू शब्द का 'जो द्रव्य के साथ मिलकर रहें' अर्थ क्यों नहीं करें? -

तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥140॥
ननु चैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात् ।
पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥141॥
अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोऽन्वयं द्रव्यम् ॥142॥
सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥143॥
अयमन्वयोऽस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्यायापेक्षाः ॥144॥

अन्वयार्थ : जो द्रव्य के साथ मिलकर होते हैं वे सहभू कहलाते हैं, यदि 'सहभू' शब्द का इस

प्रकार व्युत्पत्ति अर्थ किया जाय तो क्या आपत्ति है ? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गुणों से द्रव्य पृथक् हैं इसका पहले ही निषेध कर आये हैं । दूसरे जो द्रव्य के साथ होते हैं वे गुण हैं यदि गुण का इस प्रकार लक्षण किया जाता है तो अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार पर्यायें भी गुण ठहरती हैं । अब यदि इस दोष का वारण करने के लिये पर्यायों को पृथक् माना जाता है तो सर्व-संकर दोष का निवारण करना कठिन हो जाता है इसलिये 'जो द्रव्य के साथ मिलकर होते हैं वे सहभू कहलाते हैं' सहभू शब्द का यह अर्थ न करके पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है ।

अन्वय शब्द में 'अनु' यह पद अव्युच्छिन्न प्रवाहरूप अर्थ का द्योतक है और 'अय' धातु का अर्थ गमन करना है, इसलिये अन्वय शब्द का सार्थक अर्थ द्रव्य होता है ।

इस हिसाब से सत्ता, सत्व, सत् , सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि -- ये सब शब्द सामान्यरूप से एक ही अर्थ के वाचक ठहरते हैं ।

इस प्रकार पहले जो अन्वय का अर्थ किया है वह गुणों में घटित होता है इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं । सारांश यह है कि वस्तु का स्वभाव होने से गुण स्वतः सपक्ष अर्थात् स्वत: सिद्ध हैं, उन्हें पर्यायों की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है ।

+ शंका -- गुणों में भी व्यतिरेक संभव है -

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि । तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥145॥

अन्वयार्थ : यद्यपि गुणों में सत्ता का अन्वय पाया जाता है तो भी उनमें व्यतिरेकीपना होना चाहिये, क्योंकि वे अनेक हैं, इसलिये उनमें भाव व्यतिरेक बन जाता है ।

तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥146॥
स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥
147॥
अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥148॥
अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेकः ॥
149॥
भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः ॥
150॥
यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः ।

एकांशदेशमात्रं सब स्यात्तन्न बाधितत्वात्प्राक् ॥151॥
अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोऽपि सन्ति गुणाः ॥152॥
किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥153॥
तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैष नेति लक्षणतः ।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥154॥
तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥155॥
एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरुपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एवं हेतोश्च ॥156॥
अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाधौगिकं तदेवेति ॥157॥
स्याद्दगितावितिधातुस्तद्रूपोऽयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।

अत्यर्थोनुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोऽपि गुणः ॥158॥
अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः ।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥159॥
अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेऽपि ।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥160॥
साधारणास्तु यतरे ततरे नम्ना गुणा हि सामान्याः ।
ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥161॥
तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यतेत्वितरैः ॥162॥
संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति ।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥163॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक और अन्वय में परस्पर भेद है । व्यतिरेकी अनेक होते हैं और अन्वयी गुण नियम से एक है ।

जैसे जो एक देश है वह वही है, दूसरा नहीं है और जो दूसरा देश है वह पहला नहीं है किन्तु वह वही है यह देश व्यतिरेक है ।

और जो एक देश जितने क्षेत्र में रहता है वह वही क्षत्र है दूसरा नहीं है और जो दूसरा क्षेत्र है वह

दूसरा ही है पहला नहीं यह क्षेत्र व्यतिरेक है ।

इसी प्रकार एक समय में जो भी अवस्था होती है वह वही है, दूसरी नहीं हो सकती और जो दूसरे समय में अवस्था होती है वह दूसरी ही है पहली नहीं हो सकती, यह काल व्यतिरेक है ।

तथा जो कोई एक गुणांश है यह वही है अन्य नहीं हो सकता और जो दूसरा गुणांश है वह दूसरा ही है पहला नहीं हो सकता यह भाव-व्यतिरेक है ।

यदि व्यतिरेक को ऐसा न माना जाय तो पुनः पुनः वह यही है वह यही है, इस प्रकार का प्रत्यय होने लगेगा जिससे समग्र वस्तु एकांश देशमात्र प्राप्त हो जायगी । परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एकांश देशमात्र वस्तु की स्वीकारता में पहले ही बाधा दे आये हैं ।

सारांश यह है कि जितनी भी पर्याय हैं वे एक-एक समय की प्रथक्-प्रथक् कही गई हैं इसलिये अनेक होने पर जिस प्रकार वे व्यतिरेकी हैं उस प्रकार अनेक होने पर भी गुण व्यतिरेकी नहीं हैं ।

किन्तु एक बार अपनी बुद्धि में यदि ज्ञान ही आया है तो आत्मा का सर्वस्व होने के कारण ज्ञान ही जीव ठहरता है । अथवा एक बार अपनी बुद्धि में यदि दर्शन गुण आया है तो आत्मा का सर्वस्व होने के कारण दर्शन ही जीव ठहरता है ।

इसलिये जिस प्रकार अनेक पर्यायें 'वह यह नहीं है' इस लक्षण से व्यतिरेकी हैं इस प्रकार गुण 'वह यह नहीं हैं' इस लक्षण के न घटने से व्यतिरेकी नहीं हैं ।

अन्वय का लक्षण तो यह है कि ज्ञान ही जीव है ऐसा अनुभव में आते समय यह जीव जितना है, दर्शन ही जीव है ऐसा अनुभव में आते समय भी वह जीव उतना ही है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से ऐसी ही सिद्धि होती है ।

पूर्वोक्त प्रकार से तथा गुरु के उपदेश से यही क्रम सुखादिक गुणों में भी कहना चाहिये, क्योंकि जो जानता है वह देखता है और वही सुख का अनुभव करता है इस हेतु से उसी बात की सिद्धि होती है ।

अब पहले 'अर्थ' इस संज्ञा द्वारा गुण कहे जाते हैं यह बतलाया जा चुका है सो यह कथन भी रौढिक न होकर यौगिक ही है

'ऋ' एक धातु है, गमन करना उसका अथ है। उससे ही यह 'अर्थ' शब्द बना है ऐसा व्याकरण के जानकार कहते हैं ।

गुणों में अनादि सन्तान रूप से अनुगत रूप अर्थ पाया जाता है इसलिये गुण का 'अर्थ' यह नाम सार्थक ही है ।

सारांश यह है कि गुण भी स्वत: सिद्ध और परिणामी हैं इसलिये नित्यानित्य स्वरूप होने से उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अच्छी तरह से घटते हैं ।

यदपि गुणत्व सामान्य को अपेक्षा से सभी गुण समान हैं तथाप उनमें भेद भी है । उनमें कितने ही साधारण गुण हैं और कितने ही असाधारण गुण हैं ।

जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं ओर जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं । प्रकृत में उनके ऐसा कथन करने का कारण यह है कि साधारण गुणों से द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है और असाधारण गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है ।

उदाहरण यह है कि जैसे सत् यह गुण केवल सामान्य द्रव्य का साधक है और ज्ञान यह गुण द्रव्य विशेष का साधक है ।

+ पर्याय का विचार -

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽऽगमतः ।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्षयं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥164॥
क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः ।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥165॥
तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक् ।

अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः संल्लक्ष्यते यथाशक्ति ॥166॥
अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥167॥
वर्तन्ते तेनयतः भवितुं शीलास्तथा स्वरूपेण ।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥168॥
अयमर्थः प्रागेकं जातं समुच्छिद्य जायते चैकः ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योप्युत्पद्यते यथा देशः ॥169॥

अन्वयार्थ : प्रकृत में गुणों को लक्ष्य करके आगम के अनुसार उनका लक्षण कहा । अब यहाँ पर्यायों को लक्ष्य करके उनका लक्षण कहते हैं ।

जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथञ्चित् ध्रौव्यात्मक होती हैं, वे पर्याय कहलाती हैं । उनमें से पर्यायों का व्यतिरेकीपना तो प्रायः पहले ही भले प्रकार से बतलाया जा चुका है । अब शेष विशेषताओं को यहाँ क्रम से शक्त्यनुसार बतलाते हैं ।

'क्रम' धातु है जो पाद विक्षेप अर्थ में प्रसिद्ध है । अपने अर्थ के अनुसार क्रम यह उसी का रूप है ।

यतः क्रम से जो वर्णन करें अथवा क्रम रूप से होने का जिनका स्वभाव है या क्रम ही जिनमें होता रहे अतः पर्यायें सार्थकरूप से क्रमवर्ती कहलाती है ।

आशय यह है कि पहले एक पर्याय का नाश करके एक अन्य पर्याय उत्पन्न होती है । फिर उसका नाश हो जाने पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है । यद्यपि पर्यायों का ऐसा क्रम चलता रहता है तथापि यह अपने द्रव्य के अनुसार ही होता है ।

+ व्यतिरेक और क्रम में पारमार्थिक भेद क्या है? -

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥170॥

अन्वयार्थ : यदि व्यतिरेक और क्रम में कोई भेद है तो शब्दकृत ही रह आवे, क्योंकि इन दोनों का एक ही अर्थ है। अब यदि पारमार्थिक भेद है तो बतलाना चाहिये कि वास्तव में इनमें क्या भेद है ?

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेऽपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्यया: सूक्ष्माः ॥171॥
तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा ।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥172॥
तस्मात् व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः ।
सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥173॥
विष्कंभःक्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य ।

न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥174॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति ॥ 175॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि दोनों में पर्यायधर्म समान है तथापि यह विशेषता है कि स्थूलरूप से प्रतिभासित होनेवाली पर्यायों में सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन हैं ।

व्यतिरेक वहाँ होता है जहाँ द्रव्यों के सदृश अंशों में परस्पर के अभावरूप से प्रथक्-प्रथक् अंशविभाग किया जाता है ।

अतएव जो पर्याय स्थूल से भी स्थूल है व्यतिरेकीपना उसी में घटित होता है, क्योंकि 'वह यह है' और 'वह यह नहीं है' इतने मात्र से ही उसकी सिद्धि होती है ।

तथा क्रम विष्कम्भ को कहते हैं या जो पर्यायजात के प्रवाह का कारण है वह भी क्रम कहलाता है। पर्यायों में तथात्व है या अन्यथात्व, क्रम में यह कुछ भी विवक्षित नहीं है ।

किन्तु जो क्रमवर्तीपना व्यतिरेक पूर्वक होता है उसमें 'यह वह है किन्तु वह नहीं है? अथवा यह वैसा है किन्तु वैसा नहीं है' यह विशेषता अवश्य पाई जाती है ।

+ शंका--व्यतिरेक में क्रम की सिद्धि कैसे होती है? -

ननु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक्तु निश्चयादिति चेत् ॥

176॥

अन्वयार्थ : जब कि क्रम से अन्यथा भाव मानने में यह प्रमाण है कि 'जो पहले था वही यह है?' और 'जो जैसा पहले था वह वैसा अब भी है' तब ऐसा कौन सा प्रमाण है जिससे क्रम की सिद्धि की जाय ?

तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीत्वात् ॥177॥
अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥178॥
इदमस्ति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोंशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥179॥
तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ॥180॥

अन्वयार्थ : यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवमूलक प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अनुमान प्रमाण से 'वह वैसा ही है' इस प्रकार के नित्य की और 'वह वैसा नहीं है' इस प्रकार के अनित्य की प्रतीति होती है ।

सारांश यह है कि जिस प्रकार द्रव्य स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार वह नियम से परिणामी भी है ।

अत: वह द्रव्य प्रति-समय प्रदीप की शिखा के समान बार-बार परिणमन करता रहता है ।

किन्तु वह परिणमन पूर्व-पूर्व पर्याय के नाश द्वारा नष्ट होने वाले अंश का अथवा उत्तर-उत्तर पर्याय के उत्पाद द्वारा उत्पन्न होने वाले अंश का होता है ।

वह इस प्रकार है कि जैसे गोरस दूध से दही रूप में बदल जाता है वैसे ही जो जीव मनुष्य से देव होता है वह बदल गया है यह कैसे नहीं माना जाएगा ?

+ परिणमती हुई वस्तु को प्रति समय उत्पन्न और नष्ट क्यों न माना जाय? -

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदेव यथा ।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादितिचेत् ॥181॥
सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वह्निः ।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥182॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार अन्यथाभाव के ऐसा मानने से तो मालूम होता है कि सत् की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत् की तरह कुछ सत् भी विनष्ट हो जाता है, क्योंकि समानता और असमानता रूप परिणमन के देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है ।

अग्नि का उष्णरुप परिणमन करते रहना यह सदृशोत्पाद का उदाहरण है और आम्रफल का हरे से पीला हो जाना यह असदोत्पाद का उदाहरण है ।

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा ।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥183॥
अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोप्युत्तरत्र भावश्च ।
भूत्त्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥184॥
दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन् ।
उत्तरकालेऽपि तथा जलप्रवाहः स एव परिणामी ॥185॥
यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव ।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥186॥
दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥187॥
यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाच्च ॥188॥
अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयात्र तु स्वांशैः ॥189॥

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्ददिहैव घटमात्रम् ।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥190॥
न घटाकारेपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः ।
लोकाकारेपि चितः नियतांशानां न चाऽसदुत्पत्ति ॥191॥
किन्तवस्ति च कोऽपि भुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥192॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वभाव से ही असत् का उत्पाद और सत् का विनाश नहीं होता है किन्तु जो उत्पादादि तीन होते हैं, वे भी वस्तु का जैसा स्वभाव है तद्रूप ही होते हैं ।

इसका यह तात्पर्य है कि पहले जो भाव था उत्तर में भी वही भाव रहता है । भाव का अर्थ होकर होना है । किन्तु प्रकृत में जो सर्वथा नष्ट होता है और सर्वथा उत्पन्न होता है ऐसा कोई भाव नहीं माना गया है ।

इसके उदाहरण रूप में जल का प्रवाह लिया जा सकता है । परिणमनशील जो जल का प्रवाह पूर्व समय में है, परिणमन करता हुआ वही जल का प्रवाह उत्तर काल में भी पाया जाता है ।

तथापि द्रव्य में यह जो विसदृशता प्रतीत होती है सो वह अपनी जाति का त्याग किये बिना क्रम से होने वाले देशांशों के अवगाहन गुण के निमित्त से ही प्रतीत होती है ।

उदाहरणारार्थ एक जीव के प्रदेश असंख्यात प्रदेशी लोक के बराबर होते हैं सो उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहन की विशेषता से होती है द्रव्य की अपेक्षा से नहीं ।

अथवा दीपशिखा का प्रमाण जितना होता है वह उतना ही अवस्थित रहता है तथापि वह दीपशिखा गृह-भाजन की विशेषता से और अवगाहन की विशेषता से न्यूनाधिक होती रहती है ।

अंशों के संदर्भ में यह दृष्टान्त है कि यद्यपि ज्ञान अपने अंशों में अवस्थित है तथापि ज्ञेय के

आाकार-रूप से परिणत हुआ ज्ञान ज्ञेयाकाररूप से घटता-बढ़ता रहता है किन्तु अपने अंशों के द्वारा नहीं घटता बढ़ता ।

खुलासा इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घट को जानता है उस समय वह घटमात्र है और जिस समय वह सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष जानता है उस समय वह लोकमात्र है ।

तथापि घटाकार होने पर ज्ञान के शेष अंशों का सर्वथा नाश नहीं होता है और उस ज्ञान के नियत अंशों के लोकाकार होने पर असत् की उत्पत्ति नहीं होती है ।

किन्तु वचनों के अगोचर और स्वतः सिद्ध एक अगुरुलघु नाम का गुण है जिसका ज्ञान गुरु के उपदेश से और स्वानुभव प्रत्यक्ष से होता है, उसी निमित्त से यह सब व्यवस्था सिद्ध होती है ।

+ शंका -- गुण नित्य होने से उत्पाद-व्यय घटित नहीं होते, अथवा गुण में परिणमन के द्वारा गुण छोटे या बड़े होने चाहिए -

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल कारणं न फलं तदनन्यात् ॥193॥
अपिच गुणः स्वांशानामपर्षे दुर्बलः कथं न स्थात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥194॥

अन्वयार्थ : 'किसी शक्ति का न तो नाश ही होता है और न उत्पाद ही होता है' यदि ऐसा माना जाता है तो द्रव्य के सदा एकरूप रहने के कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं और न कोई किसी का उपादान कारण ही बन सकता है और न उपादेय कार्य ही बन सकता है ।

दूसरा -- अपने अंशों का अपकर्ष मानने पर गुण दुर्बल क्यों नहीं हो जाता और उत्कर्ष मानने पर बलवान क्यों नहीं हो जाता; इस प्रकार यह एक महान दोष प्राप्त होता है जिसका निराकरण करना

कठिन है ।

तन्न यतः परिणामी द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येर्थे ॥195॥
जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुंण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥196॥
अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव ।
यस्मादेवास्य सतस्तद्-द्वयमपि भवत्येतत् ॥197॥
आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात् ।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥198॥
इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥199॥
उत्पादस्थितिभङ्गा पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्-द्रव्यं हि तत्त्रितयम् ॥200॥

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिषद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥201॥
अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥202॥
ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥203॥
तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति हि पश्चात् स एव परिणामः ॥204॥
पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमंश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥205॥
तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥206॥

अन्वयार्थ : ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य परिणामी है यह पहले अच्छी तरह से बतला आये हैं इसलिये उसमें उत्पादादि तीन अच्छी तरह से घट जाते हैं । किन्तु द्रव्य को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर यह बात नहीं बनती है ।

उदाहरणार्थ - सोने के होने पर उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डलादिक भावों के होने पर ही उत्पादादिक तीन सिद्ध होते हैं ।

जिस प्रक्रिया से द्रव्य में उत्पादादि तीन की सिद्धि की है उसी प्रक्रिया से उसमें कारण और कार्य की सिद्धि भी कर लेनी चाहिये, क्योंकि ये दोनों भी सत् पदार्थ के ही होते हैं ।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा असत् का उत्पाद और सत् का विनाश तो दूर रहो किन्तु गुण का जो प्रमाण है तद्रूप वह सदा बना रहता है इसलिये उसमें स्थूलता और कृशता भी नहीं बन सकती है ।

इस प्रकार प्रकत में आगमानुसार पर्यायों का लक्षण कहा, अब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का यथाशक्ति प्रथक्-प्रथक् लक्षण कहते हैं ।

उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय ये तीन पर्यायों के भेद हैं, सत् के नहीं । और पर्यायों को पहले द्रव्य बतला आये हैं इसलिए 'द्रव्य इन तीन रूप होता है', यह सिद्ध हुआ ।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनमें से परिणमन करनेवाले उस सत् की जो नवीन अवस्था होती है वह उत्पाद कहलाता है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तत् और अतत् भाव के समान वस्तु सत् और असत् भाव से निष्ठ है ।

तथा व्यय भी सत् का नहीं होता है किन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है जो कि प्रध्वंसाभावरुप प्राप्त होता है । यतः सत् परिणमनशील है अतः उसके इस प्रकार का व्यय अवश्य पाया जाता है ।

सत् का केवल ध्रौव्य ही हो यह बात नहीं है किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उसका कथंचित् ध्रौव्य होता है, क्योंकि उत्पाद और व्यय के समान यह ध्रौव्य भी अंशरूप है सर्वांशरूप नहीं है ।

अथवा 'जिस वस्तु का ज्ञो भाव है उसका व्यय नहीं होना' यह जो ध्रौव्य का लक्षण बतलाया गया है सो उसका ठीक अर्थ यह है कि जो परिणाम पूर्व समय में होता है तदनन्तर भी वही परिणाम होता है ।

जैसे पुष्प का गन्धरूप परिणाम है इसलिये गन्धगुण प्रति समय परिणमन करता रहता है । कुछ गन्ध को अपरिणामी तो माना नहीं जा सकता । यह भी नहीं माना जा सकता कि पहले पुष्प निर्गन्ध था और अब गन्धवाला हो गया है ।

उन तीनों में उत्पाद और व्यय ये दोनों तो उस सत् की अनित्यता के कारण हैं और ध्रुव नित्यता

का कारण है । इस प्रकार ये तीनों ही अंशात्मक भेद है ।

+ शंका -- द्रव्य में सत्व सर्वथा नित्य और परिणति (उत्पाद-व्यय) उससे सर्वथा भिन्न -

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वो परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥207॥

अन्वयार्थ : यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सत्त्व सर्वथा नित्य है और गुण कोई नहीं है । तथा परिणतिमात्र उत्पाद और व्यय ये दोनों सत्त्व से सर्वथा भिन्न है सो ऐसी आशंक करना भी ठीक नहीं है ।

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥208॥
अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥209॥
अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद-द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥210॥

अन्वयार्थ : क्योंकि ऐसा मानने पर सबको प्रथक्-प्रथक् देशता का प्रसंग प्राप्त होने के कारण

गुण, पर्याय, द्रव्य और सत् इनमें से एक की भी सिद्धि नहीं होगी किन्तु सभी विवादापन्न हो जायगा ।

दूसरे प्रकृत में यह दूषण आता है कि जो नित्य है वह नित्य ही रहेगा और जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा । कोई एक वस्तु अनेक धर्मात्मक सिद्ध न हो सकेगी ।

तीसरे 'यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है' ऐसा जो काल्पनिक भेद होता है सो वह भी द्रव्यान्तर के समान नहीं बन सकेगा ।

+ शंका -- क्या द्रव्य और गुण को नित्य और पर्याय को तरंगों की तरह अनित्य माना जाय ? -

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥211॥

अन्वयार्थ : यदि ऐसा माना जाय कि द्रव्य और गुण दोनों ही समुद्र के समान नित्य रहे आवें तथा पर्यायें तरंगों के समान उत्पन्न होती रहें और नष्ट होती रहें, तो क्या हानि है ?

तन्न यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव वाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥212॥
अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि ।
एकत्वाज्जलघेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥213॥

किन्तु य एव समुद्रस्तङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥214॥
तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम् ॥ 215॥
यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥216॥
अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम् ।
अपि तत्-त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ 217॥

अन्वयार्थ : ऐसा मानना ठीक नहीं हैं, क्योंकि यह दृष्टान्त प्रकत अर्थ का ही बाधक है और शंकाकार के द्वारा नहीं कहे गये प्रकत अर्थ के विपक्षभूत अर्थ का साधक है (वह शंकाकार के पक्ष का बाधक तो है ही साथ ही सिद्धान्त पक्ष का साधक भी है) ।

वह विपक्षभूत अर्थ का किस प्रकार साधक है यह बतलाते हैं -- जिस प्रकार तरंगमालाओं से व्याप्त समुद्र एक ही है । उसी प्रकार किसी भी गुण की पर्यायों से सत् सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु जो समुद्र है वे ही तरंगमालाएं हैं क्योंकि वह समुद्र स्वयं ही तरंगरूप से परिणमन करता है।

इसलिये स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही ध्रौव्य है और स्वयं सत् ही व्यय है । सत् से भिन्न न

उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है ।

अथवा शुद्धनय से न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है किन्तु केवल एक सत् है ।

सारांश यह है कि यदि भेद विवक्षित होता है तब तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही प्रथक्-प्रथक् प्रतीत होने लगते हैं और यदि मूछ में भेद ही विवक्षित नहीं रहता है तो वे तीनों ही प्रतीत नहीं होते हैं ।

+ शंका -- उत्पाद-व्यय अंश हो सकते हैं, ध्रौव्य नित्य होने से अंश कैसे हो सकता है? -

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥218॥

अन्वयार्थ : उत्पाद और व्यय इन दोनों को अंशरूप मानने में आपत्ति नहीं है, किन्तु ध्रौव्य त्रिकाल गोचर होने से वह अंशरूप कैसे हो सकता है ?

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥219॥
तत्रैतदुदाहरणं यद्युत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।

उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥220॥
यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥221॥
ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥222॥
संदृष्टिर्मृद्-द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवदमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥223॥
यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्त्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥224॥
न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥225॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये तीनों ही सत् के अंश न होकर स्वयं सद्रूप हैं, क्योंकि जैसे पदार्थान्तर प्रथक्-प्रथक् होने से अनेक होते हैं, उस प्रकार यह सत् नहीं है ।

इस विषय में यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादरूप से विवक्षित होता है तब उत्पादरूप से

परिणमन करता हुआ वह केवल उत्पाद मात्र कहा जाता है ।

यदि वह केवल व्यय रूप से विवक्षित होता है तब व्यय रूप से परिणमन करने पर वह सत् केवल व्ययमात्र क्यों नहीं होगा ?

इसी प्रकार जब वह सत्त् ध्रौव्य रूप से विवक्षित होता है तब ध्रौव्यरूप से परिणमन करता हुआ वह सत् उत्पाद और व्यय के समान केवल धौव्यमात्र होता है ।

उदाहरणार्थ जब मिट्टी विद्यमान घटरूप से विवक्षित होती है तब वह केवल घटमात्र कही जाती है और जब अविद्यमान पिण्डरूप से विवक्षित होती है तब वह केवल पिण्डमात्र कही जाती है ।

अथवा जब वह मिट्टीरूप से विवक्षित होती है तब वह केवल मिट्टीमात्र कही जाती है। इसी प्रकार प्रकृत से भी एक ही सत् के ये उत्पादादिक तीन अंश हैं यह बात सिद्ध होती है ।

जैसे वृक्ष में फल, फूल और पत्ते पृथक्-प्रथक् होते हैं, वैसे ही सत् का किसी एक अंश के द्वारा उत्पाद, किसी एक अंश के द्वारा व्यय और किसी एक अंश के द्वारा ध्रौव्य हो, सो यह बात नहीं है । किन्तु यह बात है कि सत् ही उत्पादरूप है, सत् ही व्ययरूप है और सत् ही ध्रौव्यरूप है । आशय यह है कि जैसे वृक्ष में फल, फूल और पत्ते प्रथक्-प्रथक् रहते हैं, वैसे ही सत् में उत्पाद, व्यय और धौव्य प्रथक्-प्रथक् नहीं रहते ।

+ शंका -- उत्पादादिक तीनों क्या द्रव्य-रूप / पर्यायरूप / सत् के अंश / असत् रूप अंश हैं? -

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् । अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥226॥

अन्वयार्थ : क्या उत्पादादिक तीनों पृथक्-पृथक् ही अंशों के होते हैं ? अथवा अंशी के होते हैं ? या सद्रूप अंशमात्र है ? अथवा असद्रूप अंशमात्र है ?

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥227॥
केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम् ॥228॥

अन्वयार्थ : उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहां पर अनेकान्त बलवान है सर्वथा एकान्त नहीं । इसलिये अनेकान्त पूर्वक जो भी कथन किया जाता है, वह सब अविरुद्ध सिद्ध होता है किन्तु अनेकान्त के बिना किया गया कथन परस्पर में विरोधी ठहरता है ।

केवल अंशों का न उत्पाद होता है, न व्यय होता है और न ध्रौव्य होता है । इसी प्रकार अंशी का भी न उत्पाद होता है, न व्यय होता है और न ध्रौव्य होता है किन्तु इसके विपरीत अंशी का अंशरूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है, ऐसा यहां जानना चाहिये ।

+ शंका -- उत्पाद व्यय एक ही पदार्थ के हो सकते हैं, उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी कैसे? -

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥229॥

अन्वयार्थ : एक ही पदार्थ में अन्वय से अथवा वचनमात्र से उत्पाद और व्यय भले ही हों, परन्तु ध्रुव भी वही पदार्थ होता है यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कैसे बन सकती है ?

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत् त्रयाणां हि ।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥230॥
क्वापि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात् ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥231॥

अन्वयार्थ : यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में क्षण-भेद माना जाय तो पूर्वोक्त कथन में विरोध जा सकता है अथवा स्वयं सत् ही नष्ट होता है और सत् ही उत्पन्न होता है ऐसा माना जाय तो इन तीनों का एक वस्तु में रहना विरोध को प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह बात त्रिकाल में किसी भी पदार्थ के किसी भी हालत में सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो इसका साधक कोई प्रमाण ही है और न कोई ऐसा दृष्टान्त ही है जिससे कि उसकी सिद्धि को जा सके । क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है और न कोई दृष्टान्त ही मिलता है । हम देखते हैं कि मृत्ति-पिण्ड घटरूप होकर भी मिट्टीरूप बना रहता है इससे उत्पादादि तीनों एक ही पदार्थ में होते हैं, यह बात सिद्ध होती है ।

+ शंका -- उत्पादादि के भिन्न-भिन्न लक्षण होने से क्या उनमें समय-भेद है? -

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥232॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य ।

एवं लक्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्त्ववत्त्वितिचेत् ॥233॥

अन्वयार्थ : उत्पाद अपने समय में होता है, क्योंकि उसका उत्पन्न होना यही एक लक्षण है । व्यय अपने समय में होता है, क्योंकि नाश को प्राप्त होना यह उसका लक्षण है । तथा ध्रौव्य अपने समय में होता है, क्योंकि उसका ध्रुव रहना यही एक लक्षण है । इस प्रकार बीज, अंकुर और वृक्ष के समान इन तोनों में क्षणभेद सिद्ध हो जाता है । शंका का आशय यह है कि जिस प्रकार बीज, अंकुर और वृक्ष ये भिन्न-भिन्न समय में होते हैं उसी प्रकार उत्पाद, व्यय ओर ध्रौव्य, ये भी भिन्न-भिन्न समय में होते हैं -- ऐसा मानना चाहिये ?

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोऽपि सिद्धत्वात् ॥234॥
अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्-व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥235॥
बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोऽस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥236॥
यदि वाबीजाङ्कुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥237॥

आयातं न्यायबलादेतद्यत्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥238॥
अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्त्वस्य ॥239॥
तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥240॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में समय-भेद नहीं है किंतु ये उत्पादादिक तीनों ही एक समयवर्ती हैं, यह बात हेतु और दृष्टांत दोनों से सिद्ध होती है ।

खुलासा इस प्रकार है कि बीज बीज के समय में सत् ही है असत् नहीं है, इसलिये अंकुर के समय उसका सद्रूप से व्यय नहीं होता किन्तु बीज रूप से ही व्यय होता है ।

तथा इसी प्रकार बीज रूप अवस्था के रहते हुए अंकुर की उत्पत्ति न होकर अभाव ही रहा आता है, इसलिये अंकुर का उत्पाद भी अपने समय में ही होता है, अन्य समय में नहीं ।

अब बीज और अंकुर इन दोनों को सामान्य रूप से यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष स्वयं न नष्ट होता है और न उत्पन्न किन्तु अपनी बीज और अंकुररूप पर्यायों की अपेक्षा ही उसका नाश और उत्पाद होता है ।

इस प्रकार न्याय-बल से यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक कालवर्ती हैं, क्योंकि अंकुर का उत्पाद ही बीज का विनाश है और वृक्ष भी वही है ।

तात्पर्य यह है कि अंकुर के उत्पन्न होने का जो समय है वही समय बीज के नाश होने का है तथा बीज और अंकुर ये दोनों वृक्षरूप होने के कारण वृक्ष का भी वही काल है ।

इसलिये यह बात निर्दोष रीति से सिद्ध होती है कि पदार्थ के एक समय में पर्यायार्थिक नय की

अपेक्षा से उत्पादादिक तीनों ही सिद्ध होते हैं, किन्तु सर्वथा सत् के नहीं होते हैं ।

+ विरोध संभावना -

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोपि च तदैव सम्भवति ॥241॥
यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुनः ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥242॥

अन्वयार्थ : यदि पर्यायों की अपेक्षा किये बिना केवल सत् के ये तीनों होते तो उस समय प्रकृत कथन विरुद्ध होता और उसी समय उनका कालभेद भी सम्भव होता ।

अथवा जिस समय जिस पर्याय का उत्पाद होता है उसी समय उसका व्यय और ध्रौव्य भी उसी का माना जाता तो यह बात विरोध को प्राप्त होती ।

+ उत्पादादि का अविरुद्ध स्वरूप -

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥243॥

संदृष्टि पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदङ्कुरेण यथा ।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥244॥
न हि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन ।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षबाध्यत्वात् ॥245॥
उत्पादव्ययययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सरेवेति ।
तस्मादेतद्-द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥246॥
पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोऽस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न धौव्यम् ॥247॥

अन्वयार्थ : किन्तु प्रकृत में ऐसा माना है कि किसी अन्य पर्याय के द्वारा सत् का विनाश होता है तथा किसी अन्य पर्याय के द्वारा उसका उत्पाद होता है और इनसे भिन्न किसी अन्य धर्मरूप से उसका ध्रौव्य होता है ।

प्रकृत में वृक्ष का दृष्टान्त उपयोगी है जैसे कि वृक्ष अंकुररूप से स्वयं उत्पन्न होता है और बीजरूप से नष्ट होता है तथापि वृक्षरूप से वह दोनों अवस्थाओं में ध्रुव रहता है ।

किन्तु ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीजरूप से ही तो नष्ट होता हो, उसी बीजरूप से वह उत्पन्न होता हो और उसी बीजरूप से वह ध्रुव भी रहता हो, क्योंकि ऐसा मानने पर इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है ।

हां, यह बात सही है कि उत्पाद और व्यय इन दोनों का आत्मा (स्वरूप) स्वयं सत् ही है, इसलिये ये दोनों सद्रूप ही हैं, सत से भिन्न नहीं हैं ।

सारांश यह है कि पर्यायार्थिक नय से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों हैं, किन्तु द्रव्यार्थिक नय

से न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है ।

+ शंका -- उत्पादादि तीनों में अविनाभाव कैसे? -

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ ।
यदि व ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥248॥

अन्वयार्थ : या तो सद्रूप एक उत्पाद ही मानो, या असद्रूप एक व्यय ही मानो अथवा एक ध्रौव्य ही मानो, इन तीनों को क्यों मानते हो ?

तत्र यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्वयं तु तन्नियमात् ॥249॥
अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां बिना न चान्यतरत् ।
एकं वा तदवश्यं तत्रयमिह वस्तुसंसिद्ध्यै ॥250॥
अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भविन पुरस्सरत्वाच्च ॥251॥

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥252॥
उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्-धौव्यम् ।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥253॥
अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥254॥
एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिह्नववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥255॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है । कारण कि एक के बिना बाकी के दो नहीं हो सकते हैं ।

इसी प्रकार इन तीनों में से किन्हीं दो के बिना कोई एक भी नहीं हो सकता है, इसलिए वस्तु की सिद्धि के लिये इन तीनों का एक साथ मानना आवश्यक है ।

खुलासा इस प्रकार है कि व्यय बिना उत्पाद के नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव नियम से भावपूर्वक ही होता है ।

इसी प्रकार उत्पाद भी बिना व्यय के नहीं हो सकता है क्योंकि एक तो ऐसा ही अनुभव में आता है और दूसरे उत्पाद रूप भाव व्ययरूप अभाव से ही कृतार्थ होता है ।

यदि कहा जाय कि उत्पाद और व्यय ध्रौव्य के बिना हो जायेंगे सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि वस्तु के सद्भाव में ही उसके आश्रय से भाव और अभाव घटित किये जा सकते हैं ।

इसी प्रकार उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य भी नियम से नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेष के अभाव में सामान्य सत् भी नहीं पाया जाता है ।

यहां उत्पाद आदिक तीन की व्यवस्था इस प्रकार साध लेना चाहिए अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि जो अन्य का निन्हव करता है वह अपना भी घातक हो जाता है ।

+ उत्पादादि को भिन्न-भिन्न मानने में दोष -

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥256॥
अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥257॥
अथ न ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्-धौव्यम् ॥258॥
अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः ।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥259॥
एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।

उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥260॥

अन्वयार्थ : खुलासा इस प्रकार है -- जो केवल एक उत्पाद को ही मानता है उसके मत से या तो असत् का उत्पाद होने लगेगा या उत्पाद के कारणों का अभाव होने से उत्पाद ही नहीं होगा ।

तथा जो उत्पाद के बिना केवल व्यय को ही मानता है उसके मत से या तो सद् का सर्वथा नाश हो जायगा या व्यय के हेतु का अभाव होने से व्यय ही नहीं होगा ।

इसी प्रकार जो केवल एक ध्रौव्य वाले पक्ष का ही निश्चय करता है उसके मत से या तो द्रव्य अपरिणामी हो जायगा या उसके परिणमन शील होने से ध्रौव्य ही नहीं बनेगा ।

अब यदि कोई ध्रौव्य की उपेक्षा करके केवल उत्पाद और व्यय इन दो को ही प्रमाण मानता है तो उसके मत में या तो यह सब क्षणिक हो जायगा या सत् के अभाव में न तो व्यय ही बनेगा और न उत्पाद ही बनेगा ।

इस प्रकार जो पुरुष इन पूर्वोक्त दोषों के भय से प्रकृत विषय के अस्तित्व को स्वीकार करता है उसे उत्पाद आदि के अविनाभाव सम्बन्ध को मान लेना चाहिये ।

+ अनेकान्त दृष्टि से वस्तु का विचार -

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद् व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥261॥
स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च ।

तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥262॥
अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वाऽपि भावेन ॥263॥

अन्वयार्थ : जो गुण पर्याय वाला द्रव्य है वही व्ययादि से युक्त सत् है यह तो कहा । अब अनेकान्त ज्ञान की शुद्धि के लिये वस्तु के स्वरूप का विशेष विचार करते हैं -- कथंचित् है और कथंचित् नहीं है, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है, कथंचित् अनेक है और कथंचित् एक है, कथंचित् वह है और कथंचित् वह नहीं है इस प्रकार इन चार युगलों के द्वारा ही मानों वस्तु गुम्फित हो रही है ।

खुलासा इस प्रकार है -- 'जो है वह नहीं भी है' इत्यादि वे चारों युगल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से घटित होते हैं ।

+ द्रव्य की अपेक्षा कथन -

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ॥264॥
किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥265॥
अपिऽचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सनगुणश्च पर्यायः ।

सच्चोत्पादध्वंसः सदिति धौव्यं किलेति विस्तारः ॥266॥

अन्वयार्थ : सत्ता दो प्रकार की है -- एक महासत्ता है और दूसरी अवान्तर सत्ता । इस प्रकार से यद्यपि सत्ता के दो भेद हैं, तथापि न तो इनके पृथक्-पृथक् प्रदेश ही पाये जाते हैं और न इनमें स्वरूपभेद ही है ।

किन्तु सब पदार्थों में अन्वयरूप से जो 'सत्' इस प्रकार का कथन किया जाता है उसे सामान्य मात्र का ग्राहक होने से सत्सामान्य की अपेक्षा महासत्ता कहते हैं ।

तथा द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है इस प्रकार जितना भी विस्तार है वह अवान्तर सत्ता कहलाता है ।

+ अस्ति-नास्ति कथन -

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत ।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव न तु मूलात् ॥267॥
अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु ।
अपरेण महासत्तारुपेणाभाव एव भवति तदा ॥268॥
दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति ।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥269॥

अन्वयार्थ : आशय यह है कि जिस समय वस्तु 'सत्' इत्याकारक महासत्ता रूप से अवधारित

की जाती है, उस समय उसका अवान्तर-सत्ता रूप से अभाव ही है । किन्तु यह अभाव मूल से नहीं कहा जा सकता है ।

इसी प्रकार जब अवान्तर-सत्ता रूप से वस्तु का निश्चय किया जाता है तब उसका महासत्तारूप से अभाव ही रहता है ।

उक्त कथन की सिद्धि के लिये यह उदाहरण ठीक है कि जैसे पट यह कथंचित् द्रव्य रूप भी है और कथंचित् द्रव्य रूप नहीं भी है ।

जब पटत्व की विवक्षा होती है तब वह द्रव्य ठहरता है और जब पटत्व की विवक्षा न हो कर शुक्लादि धर्मों की विवक्षा होती है तब वह द्रव्य नहीं भी ठहरता है । प्रकृत में भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

+ क्षेत्र की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन -

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥270॥
अथ केवलं प्रदेशात प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽविवक्षितत्वान्न ॥271॥
अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥272॥

संदृष्टि:पटदेश: क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥273॥

अन्वयार्थ : क्षेत्र के सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद कहे हैं। उनमें से यावत्प्रदेश रूप सामान्य क्षेत्र है और प्रदेशों के व्यक्तिश: विभाग रूप विशेष क्षेत्र है ।

अब जिस समय केवल प्रदेशों की अपेक्षा से यावत्प्रदेशरूप वस्तु कही जाती है उससमय वह स्वतंत्ररूप से तो है परन्तु उस देश (द्रव्य के अंशों) की अविवक्षा होने से अंशों की अपेक्षा से नहीं है ।

इसी प्रकार जिस समय जितने उस वस्तु के अंश होते हैं केवल उन अंशों रूप से वस्तु कही जाती है उस समय वह अंशों की अपेक्षा से तो है किन्तु देश को अविवक्षा होने से देश की अपेक्षा नहीं है

उदाहरणार्थ -- क्षेत्र रूप से पट देश के विविक्षित होने पर वह कथंचित् है भी और नहीं भी है । यतः पट शुक्लादि तन्तुओं का समुदाय मात्र है अतः पट और तन्तु इनमें से जब जो विवक्षित होता है तब वह है और जो अविवक्षित रहता है वह नहीं है ।

+ काल की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन -

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुन: स्वभावेन ।
सोऽपि पूर्ववद्द्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥274॥
सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्यावमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥275॥

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥276॥
तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यंशस्याऽविवक्षया तदिह ॥277॥
संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥278॥

अन्वयार्थ : वर्तना का नाम काल है, अथवा प्रति-समय अपने स्वभावरूप से वस्तु का जो परिणमन होता है उसका नाम काल है । इसके भी पहले के समान सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद है ।

विधिरूप सामान्य काल कहलाता है और निषेधरूप विशेष काल कहलाता है । इन दोनों में से किसी एक के विवक्षित और दूसरे के अविवक्षित होने के कारण अस्ति-नास्तिरूप विकल्प होता है ।

प्रकृत में अंश (विभाग) का न किया जाना ही विधि है । उदाहरणार्थ -- सब पदार्थ स्वभावतः सद्रूप हैं ऐसा मानना विधि है । तथा द्रव्य, गुण और पर्याय इत्यादि विविध भेदों के द्वारा उस सत् का विभाग करके उसमें अंश कल्पना का करना ही प्रतिषेध है ।

यहां सामान्य और विशेष काल के साथ अस्ति-नास्ति का उदाहरण यह है कि जिस समय केवल सद्रुप से परिणमन निश्चित किया जाता है उस समय उसकी विवक्षा होने से वह विधिरूप से है किन्तु उसके अंशों को विवक्षा नहीं होने से वह अंशों की अपेक्षा से नहीं है ।

उदाहराणार्थ -- पटरूप जो सामान्य परिणमन है वह काल सामान्य की अपेक्षा से पट का स्वकाल है, इसलिये इतनेमात्र की अपेक्षा से तो वह है किन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप परिणमन विशेष की अपेक्षा से नहीं है ।

+ भाव की अपेक्षा अस्ति-नास्ति कथन -

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥279॥
स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥280॥

भाव का सामन्य और विशेष रूप-

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥281॥
अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥282॥
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति ।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥283॥
यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा ।

अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥284॥

अन्वयार्थ : भाव नाम परिणाम का है । तत्त्व का जो स्वरूप है वही उसका भाव है । अथवा शक्तियों का समुदाय भी भाव कहलाता है । अथवा भाव से पदार्थ के सर्वस्वसार का ग्रहण किया जाता है ।

विभाग करने पर उसके सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद होते हैं । इनमें से जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है अत: वह स्वभाव कहलाता है । तथा जो अविवक्षित होता है वह गौण हो जाता है, अतः वह परभाव कहलाता है ।

इन दोनों भेदों में से सामान्य भाव विधिरूप है जो शुद्ध, प्रतिषेधक और निरपेक्ष होता है । तथा विशेष भाव प्रतिषेधरूप है जो प्रतिषेध्य, सांश और सापेक्ष होता है ।

आशय यह है कि जब तक सत् में अंश-कल्पना नहीं की जाती है तब तक वह सामान्य कहा जाता है और जब उसका द्रव्यादिरूप से विभाग कर दिया जाता है तब वह विशेष कहा जाता है ।

इसलिये ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जिस समय सत् सामान्यरूप से है उस समय वह शेष विशेषों की विवक्षा नहीं होने से उसरूप से नहीं है ।

अथवा जिस समय ये सब पदार्थ विशेष रूप से विवक्षित होने के कारण उसरूप से हैं उस समय सामान्य की विवक्षा नहीं होने से वे उसरूप से नहीं हैं ।

+ स्वभाव और परभाव का कथन -

तत्र विवक्ष्यो भाव: केवलमस्ति स्वभावमात्रतया । अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥285॥

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥286॥
संदृष्टिः पटभावः पटसारों वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥287॥

अन्वयार्थ : अब इनमें जो भाव विवक्षित होता है वह केवल स्वभावरूप से है और जो भाव अविवक्षित होता है वह परभाव होने से उस समय नहीं है ।

उदाहरणार्थ -- जो भी पट का भाव पट का सार या पट की निष्पत्ति है । इसमें जो विवक्षित होता है उसरूप से वह है और इससे भिन्न परादि भावों की विवक्षा नहीं होने से उसरूप से वह नहीं है ।

सर्वत्र अर्थात् नित्य अनित्य आदि शेष तीन युगलों में द्रव्य, क्षेत्र का और भाव की अपेक्षा यही क्रम जानना चाहिये । इसमें अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है ।

+ बाकी की पांचों भंगों को लाने के संकेत -

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥288॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार अस्ति नास्ति आदि चारों युगलों की अपेक्षा दो भंग कहे । शेष पाँच भंग भी इसी प्रक्रिया से जान लेना चाहिये । इन सातों भंगों में दो भंग वर्ण-स्थानीय कहे गये हैं । किन्तु शेष पाँच भंग इनके सम्बन्ध से बनते हैं अतः वे पद-स्थानीय जानना चाहिये ।

+ वस्तु में अन्वय व्यतिरेक की सिद्धि -

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाखिलसितत्वात् ॥289॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै ।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥290॥

अन्वयार्थ : अस्ति और नास्ति इनमें से किसी एक के मानने से काम चल जाता है, दोनों को सिद्ध करने का प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन है, क्योंकि ऐसा करने से गौरव दोष आता है और कहने की चतुराई मात्र होने से वह उपादेय भी नहीं है । इसलिये तत्त्व की भले प्रकार से सिद्धि करने के लिये या तो केवल विधि का ही कथन करना ठीक है या केवल निषेध का ही कथन करना ठीक दे । दोनों का अलग भंग ग्रहण करना युक्त नहीं है, क्योंकि इनका अलग अलग ग्रहण करना अनर्थक ठहरता है ?

तन्न यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥291॥
स यथा केवलमन्वयभात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि ।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥292॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ विधि-निपेधरूप भाव से युक्त हैं । यदि इन दोनों में से किसी एक का लोप माना जाता है तो उससे भिन्न दूसरे भाव को भी लुप्त होने की आपत्ति आती है ।

विधि और निषेध में से किसी एक के नहीं मानने पर शेष दूसरे के अभाव का प्रसंग इस प्रकार आता है कि यदि वस्तु केवल अन्वय रूप है ऐसी प्रतीत मानी जाय तो यह व्यतिरेक के अभाव में अन्वय की साधक कैसे हो सकती है ?

+ शंका -- व्यतिरेक के अभाव में अन्वय अपने स्वरूप से है अर्थात् अन्वय व्यतिरेक सर्वथा स्वतंत्र हैं -

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि ।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥293॥
यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति ।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥294॥
तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा ।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥295॥
दृष्टांतोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः ।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥296॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः ।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥297॥
तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति ।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥298॥

अन्वयार्थ : अन्वय के समान व्यतिरेक भी रहा आवे इसमें हमारी क्या हानि है ? किन्तु जैसे अन्वय है वैसे ही व्यतिरेक भी है । जैसे कि चित् ओर अचित् ।

यदि तुम्हारा यह मत हो कि व्यतिरेक में अन्वय कभी भी नहीं पाया जाता है तो इससे हमारे पक्ष की किसी प्रकार की भी हानि नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक भी अन्वय में नहीं पाया जाता है ।

इसलिये यह कथन निर्दोष है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है उसी प्रकार व्यतिरेक भी है, क्योंकि इन में कोई विशेषता नहीं है । यदि एक शब्द में इन दोनों के विषय में कहा जाय तो ये दोनों समान हैं, यही कहा जा सकता है ।

दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से है उसी प्रकार पट भी अपने स्वरूप की अपेक्षा से है। घट पट में नहीं रहता है और पट घट में नहीं रहता है । किन्तु घट और पट ये दोनों ही स्वतन्त्र हैं ।

जिस प्रकार पट का अभाव घट नहीं हैं और न पट के अभाव में घट की उत्पत्ति ही होती है । उसी प्रकार पट भी घट के अभाव रूप नहीं है और न घट के अभाव से पट की उत्पत्ति ही होती है ।

इसलिये 'व्यतिरेक के अभाव में अन्वय भी नहीं रहता' यह कहना कैसे बन सकता है, क्योंकि व्यतिरेक के अभाव में भी 'अन्वय अपने स्वरूप से है' यह कहा जा सकता है ?

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥299॥
नहिं किंचिद्विधिरुपं किञ्चित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥300॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह द्वैतरूप होकर भी कथंचित् अद्वैत रूप ही है, इसलिये जब विधि की विवक्षा होती है तब वह विधिमात्र प्राप्त होता है और जब निषेध की विवक्षा होती है तब वह निषेधमात्र प्राप्त होता है ।

ऐसा नहीं है कि कुछ भाग विधिरूप है और उससे बचा हुआ कुछ भाग निषेधरूप है क्योंकि ऐसे सत् की सिद्धि सें साधन का मिलना तो दूर रहो, उसमें द्वैत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है क्योंकि वह अशेष विशेषों से रहित माना गया है ।

+ विधि, निषेध में सर्वथा नामभेद भी नहीं है -

न पुनर्द्रव्यान्तरवत्संज्ञा भेदोप्यवाधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥301॥

अन्वयार्थ : विधि और निषेध में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के समान संज्ञाभेद नहीं है, उसमें बाधा आती है क्योंकि जब विधि कहते हैं तो वस्तु विधिमात्र रहेगी बाकी के विशेष लक्षण का उसमें अभाव रहेगा अत: द्रव्यांतर के समान संज्ञाभेद नहीं है किन्तु सापेक्ष भेद है, वस्तु एक ही है ।

अपि च निषिद्धत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात् ।
उभयात्मकं यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रमीयेत् ॥302॥

अन्वयार्थ : ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यांतर (घट, पट) की तरह विधि, निषेध, दोनों ही सर्वथा भिन्न हों, सर्वथा नाम भेद भी इनमें बाधित ही है, क्योंकि सर्वथा विधि को कहने से वस्तु सर्वथा विधिमात्र ही हो जाती है, बाकी के विशेष लक्षणों का उसमें अभाव ही हो जाता है । उसीप्रकार सर्वथा निषेध को कहने से उसमें विधि का अभाव हो जाता है। इन दोनों के सर्वथा भेद में वस्तु की वस्तुता ही चली जाती है । यदि वस्तु को उभयात्मक माना जाय तो प्रकृत की सिद्धि हो जाती है ।

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा ।
संहत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥303॥

अन्वयार्थ : जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि पदार्थ विधि-निषेधात्मक है, तब वह कभी विधिरूप कहा जाता है, और कभी निषेधरूप कहा जाता है ।

दृष्टान्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया ।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात् ॥304॥

यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया ।
अपि संग्रह्य समन्तात् पटोयमिति दृश्यते सद्भिः ॥305॥

अन्वयार्थ : दृष्टान्त के लिये पट है। जिससमय पट तन्तु की दृष्टि से देखा जाता है, उससमय वह पट प्रतीत नहीं होता, किन्तु तन्तु ही दृष्टिगत होते हैं । यदि वही पट पटबुद्धि से देखा जाता है, तो वह पट ही प्रतीत होता है, उस समय वह तन्तुरूप नहीं दिखता ।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः ।
तेषामुभयान्गत्वान्नहि कोपि कदा विपक्षः स्यात् ॥306॥

अन्वयार्थ : पट की तरह और भी अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं, जो कि हमारे पक्ष को पुष्ट करते हैं, वे सभी दृष्टान्त उभयपने को सिद्ध करते हैं, इसलिये उनमें से कोई भी दृष्टान्त कभी हमारा (जैन दर्शन का) विपक्ष नहीं होने पाता है ।

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्पात्स्वयं निषेधात्मा ।
अपि च निषेधस्तद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥307॥

अन्वयार्थ : ऊपर कहे हुए कथन का खुलासा अर्थ यह है कि विधि ही युक्ति के वश से स्वयं निषेधरूप हो जाती है । और जो निषेध है, वह भी युक्ति के वश से स्वयं विधिरूप हो जाता है ।

+ स्याद्वादी का स्वरूप -

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति ।
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः ॥308॥

अन्वयार्थ : ऊपर कही हुई रीति के अनुसार जो कोई तत्त्व का ज्ञाता तत्त्व को जानता है, वही जैन है, और वही वास्तविक स्याद्वादी है । यदि ऊपर कही हुई रीति से तत्त्व का स्वरूप नहीं जानता है, तो वह स्याद्वादी नहीं है किन्तु उसका नाम सिंहमाणवक (किसी बालक को सिंह कह देना) है ।

+ सत् ध्रुव होता हुआ भी विवक्षित समय में है अविवक्षित समय में नहीं, ऐसा कैसे? -

ननु सदिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु ।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तदिदमिति चेत् ॥309॥

अन्वयार्थ : सत् ध्रुवरूप से रहता है, इसलिये वह सम्पूर्ण काल के सभी समयों में रहता है, फिर आप (जैन) यह क्यों कहते हैं कि वह सत् विवक्षित समय में ही है, अविवक्षित समय में वह नहीं है ?

सत्यं तत्रोत्तरमिति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सदिति ॥310॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि ठीक है, तुम्हारी शंका का उत्तर यह है कि सत्ता मात्र की अपेक्षा से तो सत् वही है, और सत् की अवस्थाओं की अपेक्षा से सत् वह नहीं है ।

+ तद्भाव-अतद्भाव और नित्य-अनित्य में क्या भेद है? -

ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव ।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥311॥

अन्वयार्थ : तत् और अतत् इन दोनों में तथा नित्य और अनित्य इन दोनों में परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनों का एक ही लक्षण है, और एक ही लक्ष्य है ?

नैवं यतो विशेष: समयात्परिणमति वा न नित्यादौ ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥312॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि नित्य अनित्य में और तद्भाव अतद्भाव में अवश्य भेद है। भेद भी यह है कि नित्य, अनित्य पक्ष में तो वस्तु के समय-समय में होनेवाले परिणमन का ही विचार होता है, वहाँ पर 'समान परिणाम हैं या असमान हैं, इसका विचार नहीं होता है, परन्तु तद्भाव, अतद्भाव पक्ष में यह विचार होता है कि जो वस्तु में परिणमन हो रहा है, वह सदृश है अथवा विसदृश है ।

+ सत् के नित्यानित्य होना ही सदृश और विसदृश परिणाम की सिद्धि, तत् और अतत् क्यों? -

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः । तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥313॥

अन्वयार्थ : सत् कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है केवल इतने मात्र से ही सदृश और विसदृश परिणाम की सिद्धि हो जाती है फिर यहाँ तत् और अतत् के सद्भाव और असद्भाव के विचार से क्या प्रयोजन है, क्योंकि इस विचार से तो केवल गौरव दोष आता है ?

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निह्नवे दोषात् । नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥ 314॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तत्-अतत् के भावाभाव विचार का लोप करने पर यह दोष आता हे कि सत् के नित्यानित्यात्मक होने पर भी उसमें तत् अतत् भाव के माने बिना क्रिया, फल और तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

+ सर्वथा नित्य पक्ष में दोष -

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः ।

न तथा कारणकार्ये, कारकसिद्धिस्तु विक्रियाभावात् ॥315॥

अन्वयार्थ : आशय यह है कि 'सम्पूर्ण सत् केवछ नित्य है' यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो इसके स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं बनती और इसके अभाव में कारण, कार्य और कारक इनमें से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है ।

+ सर्वथा अनित्य पक्ष में दोष -

यदि वा सदानित्यं स्यात्सर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारकाणि तत्त्वं च ॥316॥

अन्वयार्थ : अथवा 'सम्पूर्ण सत् केवल अनित्य है' यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाता है तो इसके स्वीकार करने पर क्षणिकत्व का प्रसंग आता है । जिससे क्रियाफल, कारक और तत्त्व इनमें से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है ।

+ केवल नित्यानित्यात्मक पक्ष में दोष -

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यपि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥317॥

अन्वयार्थ : यदि सत् को केवल नित्यानित्यात्मक माना जाता है तो भी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि तत् अतत् का भावाभाव माने बिना पदार्थों में जो भेद प्रतीत होता है वह नहीं हो सकता

है ।

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्विना न तदतद्विवक्षया हि यथा ॥318॥

अन्वयार्थ : अब यदि सत् का जैसा परिणमन होता है वह वैसा ही कहा जाय, ऐसा यदि चाहते हो तो तत् अतद्भाव को स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि तत् अतद्भाव की विवक्षा किये बिना समीहित की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

अपि परिणममानं सन्नतदेतत् सर्वथाऽन्यदेवेति ।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥319॥
अपि परिणतं यथा सद्दीपशिखा सर्वथा तदेव यथा ।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तदिति नयात् ॥320॥

अन्वयार्थ : 'परिणमन करता हुआ सत् वह नहीं है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है' इस प्रकार का किया गया पूर्व पक्ष तत् पक्ष को स्वीकार किये बिना दूर नहीं किया जा सकता है ।

इसी प्रकार 'परिणमन करता हुआ सत् दीप-शिखा के समान सर्वथा वही है' ऐसा किया गया पूर्व-पक्ष अतत् पक्ष को स्वीकार किये बिना भी दूर नहीं किया जा सकता है ।

इसलिये सत् नित्यानित्य के समान तद्तद्रूप है ऐसा मान लेना चाहिये, क्योंकि किसी एक के

माने बिना प्रत्यक्ष से इच्छित अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

+ शंका - पदार्थ को सदृश / असदृश के विचार बिना केवल परिणामी मानें तो? -

ननु भवति सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ।
ईहितसिद्धिस्तु सतः परिणामित्त्वाद्यथाकथञ्चिद्वै ॥322॥

अन्वयार्थ : परिणाम सर्वथा सदृश या विसदृश किसी प्रकार का भी होता रहे, इसमें तत् अतद्भाव के नहीं मानने से कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि इच्छित अर्थ की सिद्धि तो सत् को कथंचित् परिणामों मान लेने से हो जाती है ?

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा ।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥323॥
नापीष्टः संसिद्ध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मः ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो बिनाशाद्वा ॥324॥
एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनो ऽपराद्धतया ।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥325॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परिणाम होकर भी वह सदृशात्मक होता है ऐसा एक पक्ष मानने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि नित्यैकान्त आदि पक्ष के समान सदृश परिणाम के मानने पर भी वह कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता है ।

इसी प्रकार सर्वथा विसदृश परिणाम के मानने पर भी वह कार्यसिद्धि में समर्थ नहीं हो सकता है; क्योंकि जैसे क्षणिकैकान्त पक्ष के मानने पर असत् की उत्पत्ति ओर सत् के विनाश का प्रसंग आता है । वैसे ही सर्वथा विसदृश पक्ष के मानने पर भी उक्त दोष आते हैं ।

इस प्रकार इतने कथन द्वारा तदतद्भाव का अपलाप करनेवाला व्यक्ति क्लीव होने से स्वयं अपने अपराध के कारण निरस्त हो जाता है। अब उसे समझाते हैं ।

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥326॥
जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमंस्तदेवेति ।
सदृशस्योद्ग्राहतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥327॥
यदि वा तदिह ज्ञानं पारिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥328॥
अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोपि कालांशाः ।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥329॥

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिद्ध्यै त एव कालांशाः ।
समयः समयः समयः सोपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥330॥
अतदिदमिदप्रतीदों क्रियाफल कारकाणि द्वेतुरिति ।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥ 331॥
अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात् ।
न पुननिरपेक्षतया तद्-द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥332॥

अन्वयार्थ : वस्तु का तद्भाव और अतद्भाव से युक्त जो स्व|भाविक परिणमन होता है उसका इस समय दृष्टान्त पूर्वक विचार करते हैं ॥३२६॥

यथा-जीव का ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ सदा वही रहता है । इसमें ज्ञानत्व जाति का कभी भी उल्लंघन नहीं होता है । यह तद्भाव का उदाहरण है ॥३२७॥

तथा वही ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ बदल जाता है, क्योंकि विवक्षित परिणाम का अपने समय में जो सत्व है वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्य समय में नहीं है । यह अतद्भाव का उदाहरण है ॥३२८॥

इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है कि परिणमनशील जितने भी कालांश हैं वे सब अपनी जाति का उल्लंघन नहीं करने के कारण तद्भाव के ही कारण हैं ॥३२९॥

तथा वे ही काल के अंश पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अतद्भाव के भी कारण है क्योंकि उनमें प्रथम समय, द्वितीय समय और तृतीय समय इत्यादि रुप से अनेक समयों की प्रतीति होती है ॥३३०॥

प्रकृत में 'यह वह नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति का कारण क्रियाफल और कारक हैं । तथा 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति का कारण तत्त्व है । किन्तु यह बात तभी बनती है जब इन दोनों में परस्पर सापेक्षभाव माना जाय ॥३३१॥

आशय यह है कि सत् और असत् की तरह तत् और अतत् भी विधि निषेधरूप होते हैं । पर निरपेक्षपने से वे दोनों तत्त्वरूप नहीं हैं किन्तु परस्पर सापेक्षपने से ही ये दोनों तत्त्वरूप हैं ॥३३२॥

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिर्मुख्यः ।
अतदिति गुणो पृथक्त्वाटन्मात्रं निरवेशतया ॥333॥
अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यःस्यात् केवलं यदादेशात् ।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥334॥

अन्वयार्थ : खुलासा इस प्रकार है कि जिस समय 'तत्' इस रूप से केवल विधि मुख्य होता है उस समय तत् का अविनाभावी होने से 'अतत' गौण हो जाता है । इसलिये पूरी तरह से वस्तु तन्मात्र प्राप्त होती है ॥३३३॥

तथा जिस समय केवल 'अतत' का कथन करना विवक्षित होता है उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से वह मुख्य हो जाता है और 'तत्' यह स्वतः गौण हो जाने से अविवक्षित हो जाता है, इसलिये उस समय वस्तु अतन्मात्र प्राप्त होती है ॥३३४॥

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया ।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥335॥

अन्वयार्थ : अब इस विषय में जो विशेष व्याख्यान शेष है सो उस सम्बन्ध में कुछ तो पहले कह

आये हैं और कुछ आगे कहेंगे, इसलिये वहां से जान लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा न्याय है कि सूत्र में पदों की अनुवृत्ति अन्य सूत्रों से होती हुई देखी जाती है ॥३३५॥

+ वस्तु क्या नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय, जुदी, एकरूप, क्रम, अक्रम ? -

ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयं च तत्त्वं स्यात् ।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥336॥

अन्वयार्थ : वस्तु क्या नित्य है अथवा अनित्य है ? क्या उभयरूप है अथवा अनुभयरूप है ? क्या जुदी-जुदी है अथवा एकरूप है ? क्या क्रमपूर्वक है अथवा अक्रमपूर्वक है ?

सत्त्वं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वं ।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदान्कितं तु पदम् ॥337॥
अथ तद्यथा यथा सत्स्वतोस्ति सिद्धं तथा च परिणामि ।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्स्वभावतया ॥338॥
अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात् ॥339॥

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु ।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥340॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है तथापि इस कथन के पहले यदि सर्वथा पद लगा दिया जाय तो वह स्व-पर दोनों का विघातक हो जाता है और यदि उस सब कथन को स्यात्पद से अंकित कर दिया जाय तो वह स्व और पर दोनों का ही उपकारक हो जाता है ॥३३७॥

खुलासा इस प्रकार है कि जैसे सत् स्वतः सिद्ध है वेसे ही वह परिणमनशील भी है। इस प्रकार एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से नित्य भी है और अनित्य भी है ॥३३८॥

आशय यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है, परिणाम दृष्टिगत नहीं होता है उस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु नित्य प्राप्त होती है, क्योंकि वस्तु सामान्य का कभी भी नाश नहीं होता है ॥३३९॥

तथा जिस समय केवल परिणाम दृष्टिगत होता है, वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है, उस समय पर्यायार्थिक नय को अपेक्षा वस्तु अनित्य प्राप्त होती है, क्योंकि प्रति-समय नूतन पर्याय का उत्पाद और प्राचीन पर्याय का नाश देखा जाता है ॥३४०॥

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम् ।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥341॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार सत् एक है उसी प्रकार परिणाम भी एक है या दो है? फिर क्या कारण है कि इन दोनों में से किसी एक का क्रम से ही कथन किया जा सकता है दोनों का एक साथ नहीं ?

+ क्या सत् और परिणाम वर्णों की ध्वनि के समान है? -

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगवदेव तुल्यतया ।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्-ध्वनेरिति न्यायात् ॥342॥

अन्वयार्थ : तो क्या ऐसा है कि जिस प्रकार क, ख, आदि वर्ण एक साथ समानरूप से विद्यमान रहते हैं, परन्तु ध्वनि में क्रमवर्तीपना पाया जाने से वे बोले क्रम से जाते हैं, उसी प्रकार सत् और परिणाम एक साथ विद्यमान रहते हुए क्या क्रम से कहे जाते हैं ?

+ क्या सत् और परिणाम विन्ध्य हिमाचल के समान हैं? -

अथ किं खरतरदृष्टया विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा ।
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणो ऽन्यतरः ॥343॥

अन्वयार्थ : अथवा ऐसा है क्या कि जिस प्रकार देखने में विन्ध्याचल और हिमालय ये स्वतन्त्र दो हैं, परन्तु दोनों में वक्ता की इच्छानुसार जो विवक्षित होता है, वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है । उसी प्रकार क्या सत् ओर परिणाम स्वतंत्र दो हैं और इन दोनों में जो विवक्षित होता है, वह मुख्य हो जाता है और दूसरा गौण हो जाता है ?

+ क्या सत् और परिणाम सिंह साधु विशेषणों के समान हैं? -

अथ चेकः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा । सत्परिणामोपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत्किमिति ॥ 344॥

अन्वयार्थ : या ऐसा है कि जिस प्रकार कोई एक व्यक्ति कभी सिंह और कभी साधु दो तरह से विवक्षित होता है उसी प्रकार वस्तु कभी सत् और कभी परिणामरूप से विवक्षित होती है । वस्तु का सत् और परिणाम के साथ क्या इस तरह का विशेषण--विशेष्य सम्बन्ध है ?

+ क्या सत् और परिणाम दो नाम और सव्येतर गोविषाण के समान हैं? -

अथ किमनेकार्थत्वादेकं नामद्वयान्कितं किंचित् । अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ ॥345॥

अन्वयार्थ : या ऐसा है क्या कि जिस प्रकार एक ही पदार्थ नाना प्रयोजन होने से अग्नि और वैश्वानर (जठराग्नि) के समान दो नामों से अंकित होता है उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या नाना प्रयोजन होने से एक ही वस्तु के दो नाम हैं ? या जिस प्रकार दाएँ और बाएँ सींग होते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ?

+ क्या सत् और परिणाम कच्ची और पकी हुई पृथ्वी के समान हैं? -

अथ किं काल विशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात् ।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा कमिति ॥346॥

अन्वयार्थ : अथवा काल भेद से एक पहले और दूसरा पीछे होता है क्या ? जिस प्रकार कि कच्ची पक्की मिट्टी आगे पीछे होती है उसी प्रकार ये सत् और परिणाम हैं क्या ?

+ क्या सत् और परिणाम दो सपत्नियों के समान हैं? -

अथ कि कालक्रमतोप्युत्पन्नं वर्तमानमिव चास्ति ।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥347॥

अन्वयार्थ : अथवा क्या कालक्रम से उत्पन्न होकर भी ये दोनों वर्तमान काल में पररपर विरुद्ध भाव से रहते हैं ? जैसे कि आगे पीछे परणी हुई दो सपत्नियाँ वर्तमान काल में परस्पर विरुद्ध भाव से रहती हैं ?

+ क्या छोटे बड़े भाइयों तथा मल्लों के समान हैं? -

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रात्रद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥348॥

अन्वयार्थ : अथवा बड़े ओर छोटे भाई के समान ये दोनों परस्पर अविरुद्ध भाव से एक साथ

रहते हैं क्या ? अथवा ये दोनों *उपसुन्द और सुन्द इन दोनों मल्लों के समान परस्पर के आश्रित हैं क्या ?

*हिन्दु कथा के अनुसार उपसुन्द और सुन्द भाई थे और परस्पर में अत्यादिक प्रीति करते थे । दोनों ने तप करके ब्रह्मा से वर माँगा कि एक-दूसरे के अलावा उनको कोई मार न सके । बाद में दोनों तिलोत्तमा पर मोहित हुए और एक दूसरे को मार दिया ।

+ क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओं के समान हैं? -

केवल मुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥349॥

अन्वयार्थ : अथवा सत्त् और परिणाम इन दोनों में केवछ उपचार से परत्वापरत्व व्यवद्वार होता है क्या ? आशय यह है कि जिस प्रकार अपेक्षामात्र से पूर्व दिशा ओर पश्चिम दिशा ये दोनों कही जाती हैं उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या ?

+ क्या कारक द्वैत के समान हैं ? -

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव ।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्पादिह जले घटः कश्चीत् ॥350॥

अन्वयार्थ : अथवा आधार-आधेय न्याय से इन दोनों में कारक आदि द्वैत घटित होता है क्या ? जैसे कि 'घट में जल है' यहाँ आधार-आधेयभाव है किन्तु 'जछ में घट है' यहाँ वह नहीं है ।

+ क्या बीजांकुर के समान हैं? -

अथ किं बीजांकुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा ।
स यथा योनीभूतं ततत्नैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥351॥

अन्वयार्थ : अथवा जिस प्रकार बीज और अंकुर में कारण-कार्यभाव है उसी प्रकार सत् और परिणाम में भी क्या कारण-कार्यभाव है ? जैसे कि बीज और अंकुर में एक कारण है ओर दूसरा कार्य है ?

+ क्या सत् और परिणाम कनकोपल के समान हैं? -

अथ किं कनकोपलवत् किंचित्स्वं किंचिदस्वमेव यतः ।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥352॥

अन्वयार्थ : अथवा सत् और परिणाम दोनों में कनक पाषण के समान क्या एक स्वरूप है ओर दूसरा पररूप है और इस प्रकार साररुप होने से स्व ग्राह्य है ओर दूसरा पररूप असाररूप होने से अग्राह्य है ?

+ क्या सत् और परिणाम वाच्य-वाचक के समान हैं? -

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्धयै ।

पानकवत्तन्नियमादर्थाभि व्यन्जकं द्वैतात् ॥353॥

अन्वयार्थ : अथवा सत् और परिणाम ये दोनों अर्थसिद्धि के लिये वचन और अर्थ के समान संपृक्त होकर पेय पदार्थ के समान मिलकर नियम से अर्थ के अभिव्यंजक हैं क्या ?

+ क्या सत् और परिणाम नगाड़े-दण्ड के समान हैं? -

अथ किमवश्यतया तद्वक्तवयं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरी दन्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्धयेत् ॥354॥

अन्वयार्थ : अथवा दोनों के बिना अर्थ-सिद्धि नहीं होती इसलिए सत् और परिणाम इन दोनों का कथन करना आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार भेरी (नागडा) और दण्ड के संयोग से विवक्षित कार्य सिद्ध होता है इसी प्रकार क्या सत् और परिणाम के सम्बन्ध से पदार्थ की सिद्धि होती है ?

+ क्या सत् और परिणाम अपूर्ण-न्याय के समान हैं? -

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्वान्न ।
यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः ॥355॥

अन्वयार्थ : अथवा सत् और परिणाम इनका कथन रुचिपूर्वक न करके उदासीनता पूर्वक किया जाता है; क्योंकि पदपूर्ण नयाय के अनुसार इनमें से किसे एक के द्वारा ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ?

+ क्या सत् और परिणाम मित्रों के समान हैं? -

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजीत कंचिदन्यतमः ।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥356॥

अन्वयार्थ : अथवा कोई एक उपादान कारण होकर अपने कार्य को करता है और दूसरा सहकारी कारण बनकर प्रकृत कार्य को पुष्ट करता है । जिस प्रकार ये दो मित्र हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ?

+ क्या सत् और परिणाम आदेश (शत्रु) के समान हैं? -

शत्रु वदादेशः स्यात्तद्वत्तद्-द्वैतमेव किमिति यथा ।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥357॥

अन्वयार्थ : अथवा आदेश शत्रु के समान होता है उसी प्रकार ये दोनों हैं क्या ? जिससे कि इनमें से कोई एक दूसरे का समूल नाश करके निरपेक्ष भाव से स्वयं उदित होता है ?

+ क्या सत् और परिणाम दूध बिलोने वाली दो रस्सियों के समान हैं? -

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।

वामेतरकरवर्त्तितरज्जू युग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥358॥

अन्वयार्थ : अथवा जिस प्रकार वाम और दक्षिण हाथ में रहनेवाछी दो रस्सियाँ परस्पर विमुखता से अलग-अलग रहकर भी यथायोग्य कार्य करती हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुखता से अनमिल रह कर ही अपने कार्य को करते हैं ?

+ सामान्य उत्तर -

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षो भयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोऽपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥359॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने पक्ष की पुष्टि में जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे जब स्व ओर पर दोनों पक्षों के घातक होने से दृष्टान्त ही नहीं ठहरते तब ऐसा कौन मन्दबुद्धि पुरुष होगा जो स्वयं अपने विनाश के लिये प्रयत्न करेगा ?

+ वर्ण-पंक्ति के दृष्टांत ठीक नहीं -

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशिनः प्रमाणस्य ।
मा भूदभाव इति न हि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥360॥

अन्वयार्थ : परस्पर में साक्षप सत् और परिणाम इन दोनों धर्मों को विषय करनेवाले प्रमाण का अभाव करना इष्ट नहीं इसलिए प्रकृत में जो वर्णपंक्ति का दृष्टान्त दिया है वह ठीक नहीं है ।

+ प्रमाणाभाव के अभाव में नय भी नहीं ठहरता -

अपि च प्रमाणाभावे न हि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोपि नार्थकृते ॥361॥

अन्वयार्थ : यदा कदाचित् प्रमाण का अभाव भी मान लिया जाय तो भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य विवक्षा के अभाव में केवल पद पक्ष किसी प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार प्रमाण के अभाव में केवल नयपक्ष भी अपनी रक्षा में समर्थ नहीं हैं ।

+ संस्कार-वश पदों में वाक्य प्रतीति मानना भी दोषपूर्ण -

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेद्वै ।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तत्य दुर्निवारत्वात् ॥362॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति ।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतुत्वम् ॥363॥

अन्वयार्थ : यदि संस्कार-वश पदों में वाक्य प्रतीति मानी जाय (नयों में ही प्रमाण की कल्पना कर ली जाय) तो यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कथन करने पर नयों का अभाव होकर केवल प्रमाण के कथन करने की आपत्ति आती है जिसे रोकना दुर्निवार है ।

यदि कहा जाय कि केवल प्रमाणपक्ष मान लिया जाय तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर दो ऐसे दूषण आते हैं जिनका रोकना दुर्वार हो जाता है । उक्त मान्यता के अनुसार एक तो नयपक्ष का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और दूसरे ध्वनि क्रमवर्ती होती है; यह जो हेतु दिया गया था वह समीचीन हेतु नहीं ठहरता ।

+ विन्ध्य हिमालय भी दृष्टान्ताभास है -

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यताऽविवक्षश्च ॥364॥

अन्वयार्थ : विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं इसलिये एक में मुख्य / विवक्षा दूसरे में गौण / अविवक्षा हो नहीं सकती है । दूसरी बात यह है कि जब दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एक में मुख्य और दूसरे में गौण विवक्षा की इच्छा का होना ही निरर्थक है, इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतों का हृष्टान्त भी इष्ट पदार्थ को सिद्ध करने के लिये समर्थ नहीं है ।

+ सिंह साधु दृष्टान्त में स्वरूपासिद्ध दोष -

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥365॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।

केवलमिहरूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥366॥

अन्वयार्थ : जिसप्रकार किसी पुरुष के सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाते हैं, उसीप्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थ के विशेषण हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्य की सिद्धि इस दृष्टान्त से नहीं होती है, इसलिये सिंह साधु का दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्त में स्वरूपासिद्ध दोष आता है यहां पर स्वरूपासिद्ध दोष असिद्ध नहीं है किन्तु साध्यशून्य होने से सुघटित ही है । जैसे-किसी पुरुष के इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाते हैं, उनमें सिंहत्व साधुत्व धर्मों की तुलना द्रव्य में नहीं हो सकती है क्योंकि पुरुष भिन्न है उसके दो विशेषण हैं परन्तु द्रव्य भिन्न हो और सत् परिणाम उसके विशेषण हो ऐसा नहीं है । सत् परिणाम रूप ही द्रव्य है । सिंहत्व और साधुत्व इन दोनों धर्मों की कल्पना पुरुष में करदी जाती है, परन्तु सत् परिणाम काल्पनिक नहीं है किन्तु वास्तविक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्य से शून्य है। जिसप्रकार नैयायिकों के यहाँ जल में सुगन्धि सिद्ध करना असिद्ध है क्योंकि जल में सुगन्धि स्वरूपसे ही असिद्ध है इसीप्रकार इस दृष्टान्त में साध्य स्वरूप से ही असिद्ध है ।

+ अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है -

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥367॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेप्पलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥368॥

प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥369॥
अथ चेद्युतसिद्धत्त्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोपि दुर्निवारः स्यात् ॥370॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥371॥
क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥372॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयांकमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥373॥

अन्वयार्थ : अग्नि और वैश्वानर के समान सत् और परिणाम ये दो नाम ही मानें जाँय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होती है । क्योंकि वे साध्य से विरुद्ध पड़ते हैं । दृष्टान्त भी साध्य शून्य है, अर्थात् हमारा साध्य- परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है । उस उभय धर्मात्मक पदार्थरूप साध्य की सिद्धि दो नामों से नहीं होती है। तथा अग्नि और वैश्वानर ये दो नाम भिन्न रहकर एक अग्नि के वाचक हैं, इसलिये यह दृष्टान्त भी साध्य रहित है ।

यदि नाम द्वय का दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नहीं है तो हम पूछते हैं कि नाम दो धर्मों की उपेक्षा रखते हैं अथवा अपेक्षा रखते हैं ? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो धर्मों की अपेक्षा नहीं

रखते केवल एक पदार्थ के दो नाम हैं तो धर्मों का अभाव ही हुआ जाता है, धर्मों के अभाव में धर्मी भी नहीं ठहर सकता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है । यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मों की उपेक्षा नहीं करते किन्तु अपेक्षा रखते हैं तो वे दोनों धर्मद्वय से भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं ? यदि द्रव्य से भिन्न हैं तो भी वे नहीं के समान हैं, फिर भी कुछ विशेषता नहीं हुई, जो धर्मद्वय से सर्वथा जुदे हैं तो वे उसके नहीं कहें जा सकते हैं, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है । यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्य से यद्यपि जुदे हैं, क्योंकि वे [१]युतसिद्ध हैं, तथापि उन धर्मों का द्रव्य के साथ सम्बन्ध मान लेने से कोई दोष नहीं आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, यदि भिन्न पदार्थों का इसप्रकार सम्बन्ध मान लिया जाय तो सब पदार्थों का सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो जायगा ऐसी अवस्था में सभी पदार्थ संकर हो जाँयगे अर्थात् जैसे सर्वथा भिन्न धर्मों का एक द्रव्य के साथ सम्बन्ध माना जाता है वैसे उनका हरएक द्रव्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि जब वे धर्मद्वय से सर्वथा जुदे ही हैं तो जैसे उनका एक द्रव्य से सम्बन्ध हो सकता है वैसे सब द्रव्यों से हो सकता है फिर सभी द्रव्य परस्पर मिल जाँयगे । द्रव्यों में परस्पर भेद ही न हो सकेगा । इसलिये द्रव्य से धर्मों को जुदा मानना ठीक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्य से अभिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्र में रहनेवाले रूप (रंग) की तरह अभिन्न हैं अथवा आटे में मिले हुए खारेपन की तरह अभिन्न है ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्य के समान वे धर्मद्वय से अभिन्न हैं तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लवण की रोटी में जो खारापन है वह लवण का है, रोटी का नहीं है । रोटी से खारापन जुदा ही है। इसी के समान घर्मद्वय भी द्रव्य से जुदे पड़ेंगे । जुदे होनेसे उनमें परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा भी [२]नहीं रहेगी । परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्य के समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नहीं है। क्षार द्रव्य के समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णों की पंक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है । इसप्रकार की स्वतन्त्रता मानने से न तो नय ही सिद्ध होते हैं और न प्रमाण ही सिद्ध होता है। बिना परस्पर की अपेक्षा के एक भी सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिये क्षार द्रव्य के समान न मानकर रूप और पट के समान उन धर्मों की अभिन्नता यदि मानी जाय तो यह प्रकृत के अनुकूल ही है । अर्थात् जिसप्रकार वस्त्र और उसका रंग अभिन्न है, बिना वस्त्र की अपेक्षा लिये उसके रंग की सिद्धि नहीं, और बिना उसके रंग की अपेक्षा लिये वस्त्र की सिद्धि नहीं, उसीप्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणाम की अभिन्नता

भी मानी जाय तब तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर शंकाकार का एक पदार्थ के ही सत् और परिणाम, दो नाम कहना तथा अग्नि और वैश्वानर का दृष्टान्त देना निरर्थक ही नहीं किन्तु उसके पक्ष का स्वयं विघातक है । तात्पर्य यह है कि अग्नि और वैश्वानर ये दोनों अग्नि के ही पर्यायवाची हैं परन्तु सत् और परिणाम ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं किन्तु नय एवं विवक्षा भेद से हैं ।

[१]जो एक-दूसरे से आश्रित न होकर स्वतंत्र हों उन्हें युतसिद्ध कहते हैं । जैसे चौकी पर रक्खी हुई पुस्तक । युतसिद्ध दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध है सत् परिणाम भिन्न-भिन्न नहीं हैं, एक द्रव्यात्मक हैं ।

[२]आटे और लवण में यद्यपि स्वाद की अपेक्षा से परस्पर अपेक्षा है, परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि बिना आटे के लवण की सिद्धि न हो, अथवा बिना लवण के आटे की सिद्धि न हो । परन्तु सत् और परिणाम में वैसी ही अपेक्षा अभीष्ट है बिना सत् के परिणाम नहीं ठहरता और बिना परिणाम के सत् नहीं ठहरता । दोनों की एक दूसरे की अपेक्षा में ही सिद्धि है ।

[३]भिन्न-भिन्न रक्खे हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्था में उनसे किसी कार्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती है ।

अपि चाकिन्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः ।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥374॥
न यतः पृथगिति किन्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्-द्वयोरैक्यात् ॥375॥

अन्वयार्थ : [च] तथा **[सुरभि गगनारविन्दमिव]** आकाश के कमल की सुगंध की तरह **[आश्रयासिद्धदृष्टान्तात्]** आश्रयासिद्ध दृष्टांत होने से **[सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः अपि]** एक साथ उत्पन्न होने वाले गौ के वाम और दक्षिण सींगों का दृष्टांत भी **[अकिन्चित्कर इव]** अकिंचित्कर के सामान है ।

[यतः इह] क्योंकि यहाँ **[सत्परिणामातिरिक्तम्]** सत् तथा परिणाम से भिन्न आश्रयभूत **[किन्चित् वस्तु]** कोई वस्तु **[पृथगिति न]** पृथक नहीं है किन्तु

[तद्-द्वयोरैक्यात्] उन (सत् और परिणाम) का एक होने से **[इह]** यहाँ पर **[दीपप्रकाशयोरिह]**

दीप और प्रकाश की तरह **[गुम्फितमिव]** गुम्फित है ।

+ कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है -

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्त्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥376॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥377॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥378॥

अन्वयार्थ : **[आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं]** कच्ची और पक्की अवस्था से विशिष्ट पृथ्वित्व **[नेह भवति दृष्टान्तः]** यहाँ पर दृष्टांत नहीं हो सकता क्योंकि **[क्रमवर्त्तित्वादुभयोः]** पृथ्वी की दोनों अवस्थाएं क्रम्वर्ती होती हैं इसलिए **[स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात्]** दृष्टांत स्व और पर दोनों पक्षों का घातक है ।

[परपक्षवधस्तावत्] परपक्ष (जैन-सिद्धांत) का वध तो इसप्रकार है कि शंकाकार ने **[क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः]** प्रतिज्ञा को स्वयं क्रमवर्ती माना है तथा **[असमर्थसाधनत्वात्]** इस साध्य की सिद्धि के लिए हेतु को समर्थ न होने से **[स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य]** स्व-पक्ष का भी (उक्त दृष्टांत) स्वयं बाधक है क्योंकि **[तत्साध्यम्]** (एकान्ति होने के कारण) शंकाकार का इष्ट मिट्टीरूप **[निसर्गतो वस्तु]** वस्तु स्वभाव से **[नित्यं वा यदि वा नित्यं]** नित्य ही अथवा अनित्य ही हो सकती है किन्तु **[इह हि]** यहाँ (जैन सिद्धांत में) निश्चय से वह **[पृथिवीत्वतया]** पृथ्वीत्वपने के द्वारा **[नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया]**

नित्य है और क्रमपूर्वक होनेवाले अपक्व और पक्वपाने के द्वारा अनित्य है ।

+ सपत्नीयुग्म दृष्टांत में अनेक दोष -

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः । इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥379॥ माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात् । क्रतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं कृतं विचारतया ॥ 380॥

अन्वयार्थ : दो सपत्नियों (सौतों) का दृष्टान्त तो हास्य पैदा करता है, यह दृष्टान्त तो सभी दोषों से दूषित है, इस दृष्टान्त से असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि सभी दोष आते हैं । जिसप्रकार किसी का यह कहना कि मेरी माता बाँझ है, सर्वथा विरुद्ध है, उसी प्रकार सत् परिणाम को दो सपत्नियों के समान क्रम से उत्पन्न मानकर एक काल में परस्पर विरुद्ध रीति से उनकी सत्ता का कथन करना भी विरुद्ध है। क्योंकि सत् परिणाम न तो किसी काल विशेष में क्रम से उत्पन्न ही होते हैं, और न वे एक स्थान में विरुद्ध रीति से ही रहते हैं, किन्तु अनादि अनन्त उनका परस्पर सापेक्ष प्रवाह युगपत् चला जाता है । इसलिये सपत्नीयुग्म का दृष्टान्त विरुद्ध ही है ।

तथा जिसप्रकार कृतकत्व हेतु से घट शरावे के समान पदार्थों में भिन्नता सिद्ध करना अनैकान्तिक है क्योंकि पट और तन्तुओं में कृतक होने पर भी अभिन्नता पाई जाती है । इसलिये कृतकत्व हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास दोष से दूषित है । इसीप्रकार सत् परिणाम के विषय में दो सपत्नियों का दृष्टान्त भी अनैकान्तिक दोष से दूषित है। क्योंकि दो सपत्नियाँ कहीं पर परस्पर विरुद्ध होकर रहती हैं और कहीं

पर परस्पर एक दूसरे की सहायता चाहती हुई प्रेमपूर्वक अविरुद्ध भी रहती हैं । यह नियम नहीं है कि दो सौतें परस्पर विरुद्ध रीति से ही रहें । इसलिये यह दृष्टान्त अनैकान्तिक दोष से दूषित है। अथवा सपत्नी युग्म में विरोधिता पाई जाती है कहीं नहीं भी पाई जाती है इसलिये अनैकान्तिक है तथा जिसप्रकार बौद्ध का यह सिद्धान्त कि सब पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक हैं, सर्वथा असिद्ध है असिद्धता का हेतु भी यही है कि जो क्षणिककैकान्त हेतु दिया जाता है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पदार्थों में नित्यता भी प्रतीत होती है, यदि नित्यता पदार्थों में न हो तो यह वही पुरुष है जिसे दो वर्ष पहले देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा यथार्थ प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा यदि नित्यता पदार्थों में न मानी जाय तो स्मरण पूर्वक जो लोक में लेन-देन का व्यवहार होता है वह भी न हो सके, परन्तु वह भी यथार्थ होता है, इत्यादि अनेक हेतुओं से सर्वथा क्षणिकता पदार्थों में सिद्ध नहीं होती उसीप्रकार दो सपत्नियों का दृष्टान्त भी सर्वथा असिद्ध है क्योंकि दो सपत्नियाँ दो पदार्थ हैं । यहाँ पर सत् परिणाम उभयात्मक एक ही पदार्थ है । दूसरे सपत्नीयुग्म विरोधी बनकर आगे-पीछे क्रम से होता है । सत् परिणाम एक काल में अविरुद्ध रहते हैं । इसलिये यह दृष्टांत हास्यकारक है, इस पर अधिक विचार करना ही व्यर्थ है ।

+ बड़े छोटे भाई का दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है -

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रात्रद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
धर्मिणि चासति तत्त्वे तथाश्रयासिद्ध दोषत्वात् ॥381॥
अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसंगदोषश्च ॥382॥

अन्वयार्थ : छोटे बड़े भाई का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्य से विरुद्ध पड़ता है ।

हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थ की सत्ता सिद्ध करता है । छोटे बड़े भाई बिना माता-पिता के नहीं हो सकते हैं, माता-पिता के होते हुए ही वे किसी काल विशेष से क्रम से उत्पन्न हुए हैं । परन्तु यह बात सत् परिणाम में नहीं है, न तो सत् परिणाम का उन दोनों से अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेष से क्रम से उत्पत्ति ही है, इसलिये धर्मी का अभाव होने से आाश्रयासिद्ध दोष आता है । दूसरी बात यह भी है कि इस दृष्टांत से अनवस्था दोष भी आता है क्योंकि भाई उनके माता पिता के पराधीन होते हैं । ऐसा पराधीनता का सिद्धान्त मानने में जो कोई भी 'पर' होगा उसे पराधीन ही मानना पड़ेगा, जिसप्रकार पुत्र पिता के आधीन है, पिता अपने पिता के अधीन है, वह अपने पिता के अधीन है, इसीप्रकार सत् और परिणाम को पराधीन मानने पर अनवस्था दोष आता है क्योंकि पराधीनतारूपी श्रंखला का कहीं अन्त नहीं आवेगा ।

+ कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है -

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिवद्धि यतः ।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिविपक्षवृत्तिश्च ॥383॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्यादकात्मनि तथैव नानात्वे ।
स्थान्यां दधीतिहेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥384॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथन्चित्सपक्षदक्षश्चेत् ।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥384॥

साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम् । तत्स्वाम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रएवांशः ॥386॥

अन्वयार्थ : आधार आधेय न्याय से जो दो कारकों का दृष्टांत दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, वह व्यभिचारी है क्योंकि वह सपक्ष विपक्ष दोनों में ही रहता है । साध्य के अनुकूल दृष्टान्त को सपक्ष कहते हैं और उसके प्रतिकूल दृष्टान्त को विपक्ष कहते हैं । जो दृष्टान्त साध्य का सपक्ष भी हो तथा विपक्ष भी हो वह व्यभिचार दोष विशिष्ट दृष्टान्त कहलाता है । सत् परिणाम के विषय में दो कारकों का दृष्टान्त भी ऐसा ही है । क्योंकि जैसे आधार आधेय दो कारक 'वृक्षे शाखा' (वृक्ष में शाखा) यहाँ पर अभिन्न-एकात्मक पदार्थ में होते हैं, वैसे 'स्थाल्यां दधि' (बटलोई में दही) यहाँ पर भिन्न-अनेक पदार्थों में भी होते हैं । अर्थात् 'वृक्षे शाखा' यहाँ पर जो आधार आधेय है वह अभिन्न पदार्थ में है, इसलिये सपक्ष है । परन्तु 'स्थाल्यां दधि' यहाँ पर जो आधार आधेय है वह भिन्न दो पदार्थों में है इसलिये वह विपक्ष है । इसलिये दो कारकों का दृष्टान्त व्यभिचारी है ।

यदि कोई यह कहे कि यह दृष्टान्त व्यभिचारी भले ही हो, परन्तु इससे अपने पक्ष की सिद्धि भी किसी तो प्रकार हो ही जाती है । यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे दूसरे पक्ष का शत्रु है वैसे अपने अपने पक्ष का भी तो स्वयं शत्रु है अर्थात् व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे सपक्ष में रहकर साध्य की सिद्धि कराता है वैसे विपक्ष में रहकर वह साध्य विरुद्ध भी तो हो जाता है । इसलिये यह दृष्टांत दृष्टांताभास है । यहाँ पर सत् और परिणाम में देश के अंश होने से अंशपना सिद्ध किया जाता है और उनका आधार उनसे भिन्न पदार्थ सिद्ध किया जाता है (यह शंकाकार का मत है) यदि उन दोनों का कोई स्वामी-आराधारभूत पदार्थ हो तब तो आधार-आधेयभाव उनमें बन जाय, परन्तु सत्-परिणाम से अतिरिक्त उनका कोई स्वामी हो नहीं है तो फिर ये दोनों किसके अंश कहलावेंगे ? वे दोनों तो अंश स्वरूप ही माने जा चुके हैं, इसलिये कारकद्वय का दृष्टांत ठीक नहीं है ।

+ बीजांकुर भी दृष्टान्ताभास है -

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजांकुरवदिहेति दृष्टान्तः ।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥387॥
बीजावसरे नांकुर इव बीजं नांकुरक्षणे हि यथा ।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥388॥

अन्वयार्थ : बीज और अंकुर का दृष्टान्त भी सत् परिणाम के विषय में उपयोगी नहीं पड़ता है, क्योंकि बीज अपने समय में होता है, अंकुर अपने समय में होता है । दोनों ही पूर्वापर भाववाले हैं अर्थात् आगे पीछे होनेवाले हैं जिसप्रकार बीज के समय में अंकुर नहीं होता है और अंकुर के समय में बीज नहीं होता है, उसप्रकार सत् और परिणाम में पूर्वापरभाव नहीं होता है, उन दोनों का एक ही काल है ।

+ उसी को स्पष्ट करते हैं -

सदभावे परिणामो भवति न सत्ताक आश्रयाभावात् ।
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥389॥

अन्वयार्थ : जिसप्रकार दीपक का अभाव होने पर उसीसमय प्रकाश का भी अभाव हो जाता है, कारण -- दीपक प्रकाश का आश्रय है, बिना दीपक के प्रकाश किसके आश्रय ठहरे उसीप्रकार सत् के अभाव में परिणाम भी अपनी सत्ता नहीं रख सकता है, कारण -- परिणाम का सत् आश्रय है, बिना आश्रय के आश्रयी कैसे रह सकता है ?

परिणामाभावेपि च सदिति च नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोप्यवश्यमध्यक्षात् ॥390॥

अन्वयार्थ : जिसप्रकार प्रकाश का नाश होने पर दीपक का नाश भी प्रत्यक्ष दिखता है, अर्थात् जहाँ प्रकाश नहीं रहता, वहाँ दीपक भी नहीं रहता है । उसीप्रकार परिणाम के अभाव में सत् भी अपनी सत्ता को नहीं अवलम्बन कर सकता है ।

+ क्षणभेद मानने में दोष -

अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥391॥

अन्वयार्थ : यदि अनायास इष्ट पदार्थ की सिद्धि हो जाय तो सत् और परिणाम दोनों का क्षणभेद-कालभेद भी मान लिया जाय, परन्तु कालभेद मानने से इष्ट सिद्धि तो दूर रहो उल्टी हानि होती है । दोनों का कालभेद मानने पर सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होने लगेगी । क्योंकि जब दोनों का काल-भेद माना जायगा तो जो है वह सर्वथा नष्ट होगा और जो उत्पन्न होगा वह सर्वथा नवीन ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं होता, सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति मानने से जो दोष आते हैं उनका पहले (१० वें श्लोक में) विवेचण किया जा चुका है ।

+ कनकोपल भी दृष्टांताभास है -

कनकोपलबदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्यातुम् ।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥392॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥393॥

अन्वयार्थ : सत् परिणाम के विषय में कनकोपल का दृष्टांत भी ठीक नहीं है । यह दृष्टांत परीक्षा करने पर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सकता है । सोना और पत्थर इन मिले हुये दो द्रव्यों का नाम ही कनकोपल है । इसलिये कनकोपल दो द्रव्यों के समुदाय का नाम है । कनकोपल में गुणगुणीभाव नहीं है अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है । क्योंकि जिसप्रकार सत् परिणाम में कथंचित् गुणगुणीभाव है इसप्रकार इस दृष्टांत में नहीं है । दो द्रव्यों का समुदाय होने से ही कनकोपल में कुछ अंश के ग्रहण करने का और कुछ अंश के छोड़ने का विचार हो सकता है । परन्तु सत् परिणाम में इसप्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सकता है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं । जहाँ पर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्य का ग्रहण और एक का त्याग हो सकता है परन्तु जहाँ पर केवल एक ही द्रव्य है वहाँ पर ऐसा होना असम्भव ही है । इसलिये कनकोपल का दृष्टांत सर्वथा विषम है ।

+ वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है -

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।

घट इति वर्णद्-द्वैतात् कम्वुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥394॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्धयै ।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ॥395॥

अन्वयार्थ : वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक द्वैत का दृष्टांत भी अपनी सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है । क्योंकि घट-घकार और टकार इन दो वर्णों से कम्वुग्रीवादिवाला घट पदार्थ दूसरा ही है । जिस कम्वु (शंख) ग्रीवावाले घट में जल रक्खा जाता है वह

+ भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है -

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः ।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥396॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः ।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥397॥

अन्वयार्थ : भेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत् परिणाम के विषय में अविचारित रम्य है । अर्थात् जबतक उसके विषय में विचार नहीं किया जाता है तभी

तक वह अच्छा प्रतीत होता है । विचारने पर निःसार प्रतीत होता है । उसी को अनुमान इसप्रकार है - 'सत्परिणामौ कार्यकारिणौ संयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्' अर्थात् शंकाकार का पक्ष है कि सत् परिणाम मिलकर कार्य करते हैं क्योंकि वे संयुक्त हैं । जिसप्रकार भेरी (नगाड़ा) दण्ड संयुक्त होकर

कार्यकारी होते हैं । यह शंकाकार का अनुमान ठीक नहीं है । क्योंकि यहाँ पर जो 'संयुक्तत्व' हेतु दिया गया है वह सत् परिणामरूप पक्ष में नहीं रहता है । इसलिये हेतु: [१]व्याप्यासिद्ध दोष से दूषित है । अर्थात् सत् परिणाम भेरी दण्ड के समान मिलकर कार्यकारी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूप में कार्यकारी है ।

यदि सत् परिणाम को युतसिद्ध -- भिन्न भिन्न स्वतन्त्र माना जाय तो दोनों में से एक भी सिद्ध न हो सकेगा । क्योंकि दोनों ही परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा में आत्मलाभ-स्वरूप सम्पादन करते हैं। यदि इन्हें स्वतंत्र-स्वतंत्र मानकर एक का दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्था में सभी सबके धर्म हो जायें । कारण जब स्वतन्त्र रहने पर भी एक दूसरे का धर्म माना जायगा तो धर्म-धर्मी का कुछ नियम नहीं रहेगा । हर कोई हरएक का धर्म बन जाय इसमें कौन बाधक होगा ?

[१]पक्ष में हेतु की असिद्धता को व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं । अथवा साध्य के साथ हेतु जहाँ पर व्याप्त न रहता हो वहाँ पर व्याप्यासिद्ध दोष आता है । यहाँ पर-सत् परिणाम मे न तो संयुक्तत्व हेतु रहता है और न कार्यकारित्व के साथ संयुक्तत्व की व्याप्ति है ।

+ अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है -

इह यदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः ।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥398॥
अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण ।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥399॥

अन्वयार्थ : यहाँ पर अपूर्ण न्याय से एक का मुख्यता से दूसरे का उदासीनता से ग्रहण करनेरूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है । क्योंकि अपूर्ण न्याय से जिसका मुख्यता से ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनता से कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा;

ऐसी अवस्था में द्वैत का अभाव दुनिवार ही होगा, अर्थात् जब दूसरा उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समभना चाहिये, इसलिये एक की ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं । अत: अपूर्णा न्याय का दृष्टान्त उनके विषय में ठीक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि दोनों ही यद्यपि समान हैं तथापि एक को मुख्यता से कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पड़ता है, जब दोनों की समानता में भी एक के बिना दूसरे की सिद्धि हो जाती है तो दूसरे की भी सिद्धि पहले के बिना हो जायगी, अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगा, ऐसी अवस्था में कार्य-कारण भाव भी नहीं बन सकेगा । क्योंकि कार्य-कारण भाव तो एक दूसरे की आधीनता में ही बनता है । इसलिये अपूर्ण न्याय का हष्टांत सब तरह विरुद्ध ही पड़ता है ।

+ मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है -

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्वेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥400॥
तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥401॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥402॥

अन्वयार्थ : एक अपने कार्य को सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्य में सहायक होता है, यह मित्रद्वय का दृष्टांत भी स्वप्न के समान ही है । जिसप्रकार स्वप्न में पाये हुए पदार्थ से कार्य-सिद्धि नहीं

होती है, उसी प्रकार इस दृष्टांत से भी कुछ कार्य-सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इस दृष्टांत से हेतु का हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतु का भी हेतु मानना पड़ेगा । ऐसा मानने से अनवस्था दोष आवेगा और गौरव का प्रसंग भी आवेगा । उसका दृष्टांत इसप्रकार है कि जैसे कोई पुरुष मुख्यता से अपने कार्य को सिद्ध करता है और दूसरा उसका मित्र उसके उस कार्य में सहायक हो जाता है । जिसप्रकार दूसरा पहले की सहायता करता है उसीप्रकार दूसरे की सहायता के लिये तीसरे सहायक की आवश्यकता है, उसके लिये चौथे की, उसके लिये पाँचवें की, इसप्रकार उत्तरोत्तर सहायकों की योजना अवश्य ही अनिवार्य (प्राप्त) होगी । यदि यह कहा जाय कि एक कार्य के लिये दो कारणों की ही आवश्यकता होती है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्य में दो ही सहायक मित्र आवश्यक होते हैं । उनसे अतिरिक्त कारणों की आवश्यकता ही नहीं होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्य में दो ही कारण होते हैं उनसे अधिक होते ही नहीं, इस नियम का विधायक कोई प्रमाण नहीं है इसलिये सत् परिणाम के विषय में मित्र-द्वय का दृष्टान्त भी कुछ कार्यकारी नहीं है ।

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥403॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तत्रियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥404॥

उत्तरार्द्ध

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः ॥1॥

अन्वयार्थ : जिसप्रकार वस्तु का सामान्य-धर्म स्वयं सिद्ध है उसीप्रकार वस्तु का विशेष-धर्म भी स्वतः सिद्ध है । जिसमें सामान्य-धर्म पाया जाता है उसी में विशेष-धर्म भी पाया जाता है यह बात असिद्ध नहीं है । जिसप्रकार किसी वस्तु की 'धातु' संज्ञा रख दी जाती है यह तो सामान्य है, चाँदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है इसलिये धातु शब्द तो सामान्य है परन्तु कोई धातु पीली है और कोई सफेद है । यह पीले और सफेद का जो कथन है वह विशेष की अपेक्षा से है ।

+ सामान्य विशेष मे अन्तर -

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः ।
अस्त्यल्पव्यापको वस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥2॥

अन्वयार्थ : सामान्य बहुत वस्तुओं में रहता है। क्योंकि अनेक वस्तुओं में रहनेवाले समान धर्म

को ही सामान्य कहते हैं । विशेष बहुत वस्तुओं में नहीं रहता, किन्तु ख़ास-ख़ास वस्तुओं में जुदा जुदा रहता है । जो बहुत देश में रहे उसे व्यापक कहते हैं और जो थोड़े देश में रहे उसे व्याप्य कहते हैं । सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है । अस्तित्व गुण एक द्रव्य के सभी अनन्त गुणों में रहता है क्योंकि सभी गुण भावात्मक हैं परन्तु ज्ञान दर्शन आदि गुण जुदे-जुदे हैं अतः एक द्रव्य में अस्तित्व गुण सामान्य है और अन्य गुण विशेष हैं अत: एक द्रव्य में भी व्याप्य-व्यापक भाव है ।

+ विशेष द्रव्यों का स्वरूप -

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः ।
चेतनालक्षणो जीव: स्यादजीवोप्यचेतनः ॥3॥

अन्वयार्थ : द्रव्य के मूल में दो भेद हैं जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य । ये दोनों भेद शब्द की अपेक्षा से भी हैं और अर्थ की अपेक्षा से भी हैं । जीव और अजीव ये दो वाचक रूप शब्द हैं । इनके वाच्य भी दो प्रकार हैं एक जीव और दूसरा अजीव । इसप्रकार शब्द की अपेक्षा से दो भेद हैं । अर्थ की अपेक्षा से भी दो भेद हैं । जिसमें ज्ञान दर्शनादिक गुण पाये जाँय, वह जीव द्रव्य है और जिसमें ज्ञान दर्शन आदिक गुण न पाये जाँय वह अजीव द्रव्य है ।

+ जीव अजीव की सिद्धि -

नासिद्धं सिद्धदृष्टांताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।

जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥4॥

अन्वयार्थ : **[सिद्धदृष्टांतात्]** प्रसिद्ध दृष्टांत (जीवित शरीर और घट) से **[चेतनाऽचेतनद्वयम्]** जीव और अजीव दोनों की **[नासिद्धं]** असिद्धि नहीं है क्योंकि **[अन्यथा]** ऐसा नहीं होता तो **[घटादिभ्य]** घट आदि से **[जीवद्वपु]** जीवित शरीर **[विशिष्टं कथम्]** विलक्षण क्यों प्रतीत होता है ?

+ जीव सिद्धि में अनुमान -

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥5॥

अन्वयार्थ : जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है इस विषय में सुखादिकों का स्व-संवेदन ज्ञान ही प्रमाण है । जो सुखादिक का अनुभव नहीं करता है वह जीव भी नहीं है, जैसे घड़ा ।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवस्स्वसिद्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥6॥

अन्वयार्थ : **[इति]** इसप्रकार **[स्वसिद्यर्थम्]** आत्म-सिद्धि के लिए **[साध्य: जीव:]** साध्यरूप जीव **[हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेण]** इस पूर्वोक्त (स्व-संवेदन) प्रत्यक्षरूप हेतु सहित आत्म-प्रत्यक्ष से **[अवधारित:]** सिद्ध जोता है **[च]** और **[ततोऽन्यथा अजीव:]** इसके विपरीत होने से (स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु के अभाव में) अजीव भी सिद्ध होता है ।

+ मूर्त तथा अमूर्त द्रव्य का विवेचन -

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥7॥

अन्वयार्थ : छहों द्रव्यों में कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं । द्रव्यों में यह मूर्त ओर अमूर्त का भेद स्वभाव से ही है किसी निमित्त से किया हुआ नहीं है । जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियों से ग्रहण न हो उसे अमूर्त कहते हैं ।

+ मूर्त की तरह अमूर्त भी यथार्थ है -

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥8॥

अन्वयार्थ : **[न पुनः]** किन्तु ऐसा नहीं है कि **[मूर्तं वास्तवं]** मूर्त ही यथार्थ में पदार्थ हो और **[अमूर्तं स्यादवास्तवम्]** अमूर्त कोई वस्तु ही नहीं हो क्योंकि **[तथासति]** ऐसा मानने पर **[सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्]** सर्व-शून्यादि दोषों का प्रसंग आता है ।

+ मूर्त का लक्षण -

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः ।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥9॥

अन्वयार्थ : रूप, रस, गन्ध, वर्ण का नाम ही मूर्ति है । जिसमें मूर्ती पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ती नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है ।

+ मूर्त का ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है -

नासंभवं मवदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरै: ॥10॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियों का रूपादिक के साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थों के साथ नहीं होता यह बात असम्भव नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध है ।

+ अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ? -

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥11॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[अमूर्तार्थसद्भावे]** अमूर्त पदार्थ के सद्भाव में

[किं प्रमाण] क्या प्रमाण हैं **[इति अद्य न वद]** यह अब हमें बताओ क्योंकि **[इन्द्रियार्थाणां]** इन्द्रिय और अर्थ के **[सन्निकर्षात् विना]** सन्निकर्ष के बिना **[यत् अपि]** जो कुछ है **[तत्]** वह सब **[खपुष्पवत्]** आकाश पुष्प के समान (असंभव) है ।

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥12॥

अन्वयार्थ : **[एव न]** ऐसा नहीं है **[यतः]** क्योंकि **[सुखादीनां संवेदनसमक्षतः]** सुखादिकों के संवेदन रूप प्रत्यक्ष से **[तत्र]** उन (अमूर्त पदार्थों) में **[नासिद्धं वास्तवं]** वस्तुत्व (पदार्थत्व) असिद्ध नहीं है किन्तु **[असिद्धं रसादिमत्]** वे रसादिवाले हैं, यह असिद्ध है ।

+ आत्मा रसादिक से भिन्न है -

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥13॥

अन्वयार्थ : ऊपर के श्लोक में रसादिक आत्मा से भिन्न ही बतलाये हैं । उसी बात को यहाँ पर खुलासा करते हैं । आत्मा में जो रस का ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होने से ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस पुद्गल का गुण है वह जीव में किस तरह आ सकता है । यदि रस भी आत्मा में पाया जाता तो जिसप्रकार ज्ञान, सुख, दुःख का अनुभव होने से ज्ञानी, सुखी, दुःखी आत्मा बन जाता है उसीप्रकार रसमयी भी हो जाता परन्तु ऐसा नहीं हैं ।

+ सुख-दुःखादिक ज्ञान से भिन्न नहीं है -

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥14॥

अन्वयार्थ : सुख-दुःख आदिक जो भाव हैं वे ज्ञान से अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही हैं । क्योंकि चेतन भावों में ही सुख दुःख का अनुभव होता है ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिक का अनुभव नहीं हो सकता ।

न पुनः स्वैरसन्चारि सुखं दुखं चिदात्मानि ।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥15॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनों में ही स्वतंत्रता से व्याप्त रहें । किन्तु ये भाव जीव के ही हैं । वर्णादिक में इस भावों का होना असंभव है ।

+ सारांश -

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।

प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥16॥

अन्वयार्थ : इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न मानने से स्वानुभव सिद्ध सुख-दुख आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

+ शंकाकार - सुख दुःख आदि रस के समान अमूर्त हैं ? -

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥17॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥18॥

अन्वयार्थ : सुख दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है । जैसे रस का ज्ञान होता है वह रस स्वरूप ही है क्योंकि वह ज्ञान रसवाला है इसी तरह सुखादिक में मूर्तता सिद्ध हो जाने पर बिना कारण उनमें अमूर्तता किस तरह जा सकती है ? अविनाभावी साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है ऐसा न्याय का सिद्धांत है ।

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ 19॥

अन्वयार्थ : ऊपर जो शंका उठाई गई है वह ठीक नहीं है । क्योंकि जो रसादि पदार्थों का ज्ञान होता है वह स्वयं रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह अमूर्त ही है । यदि उस ज्ञान को मूर्त कहा जाता है तो उस समय केवल उपचार-मात्र ही समझना चाहिये ।

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।
स्वसंवेद्याद्य भावः स्यात्तन्जडत्वानुषंगतः ॥20॥

अन्वयार्थ : ज्ञान उपचार-मात्र से तो मूर्त है परन्तु वास्तव में मूर्त नहीं है । वह वर्णादिक को विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है । यदि वास्तव में ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गल की तरह ज्ञान में जड़पना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्था में स्व-संवेदन आदिक का अभाव ही हो जायेगा ।

+ निश्चित सिद्धान्त -

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान् ।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥21॥

अन्वयार्थ : इसलिये वर्णादिक से रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त हैं ऐसा उपर्युक्त प्रमाण से स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभव से स्वीकार करना चाहिये । आगम भी इसी बात को बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गल के गुण हैं और बाकी जीवादिक पाँच द्रव्य अमूर्त हैं ।

+ लोक और अलोक -

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥22॥

अन्वयार्थ : द्रव्यों के लक्षण की अपेक्षा से ही लोक और अलोक का विभाग होता है । जहाँ पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं । और जहाँ छह द्रव्य नहीं पाये जाँय उसे अलोक कहते हैं ।

+ अलोक का स्वरूप -

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः ।
व्योममात्रावशेषत्वाद्-व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥23॥

अन्वयार्थ : जो अलोक है वह भी छह द्रव्यों से सर्वथा शून्य नहीं है । अलोक में भी छह द्रव्यों में से एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाश स्वरूप ही है ।

+ पदार्थों में विशेषता -

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।

भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥24॥

अन्वयार्थ : उन छहों द्रव्यों में दो भेद हैं । कोई दव्य तो भावात्मक ही हैं और कोई भावात्मक भी हैं तथा क्रियात्मक भी हैं ।

+ भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थों के नाम -

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च पड़ेते भावसंस्कृताः ॥25॥

अन्वयार्थ : जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं । तथा जीव, पुद्गल और शेष चारों द्रव्य भाव सहित हैं ।

+ क्रिया और भाव का लक्षण -

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥26॥

अन्वयार्थ : प्रदेशों के हिलने-चलने को क्रिया कहते हैं और भाव परिणाम को कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही (बराबर) से होता रहता है ।

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥27॥

अन्वयार्थ : यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं । उसी परिणमन में कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं पदार्थों के प्रदेश भी हलन-चलन करते हैं ।

+ ग्रंथकार की प्रतिज्ञा -

तद्यथाचाधिचिद्-द्रव्यदेशनाऽरम्यते मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥28॥

अन्वयार्थ : ग्रन्थकार कहते हैं कि अब हम चेतन द्रव्य के विषय में ही व्याख्यान करेंगे । जो कुछ हम कहेंगे वह हमारी निज की कल्पना नहीं समझना चाहिये, किन्तु युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्यों के कथन के अनुकूल ही हम कहेंगे । इनसे विरुद्ध नहीं ।

+ सप्त तत्त्वों में ज्ञीव की मुख्यता -

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात् ।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥29॥

अन्वयार्थ : पहले जीव-तत्त्व का निरूपण किया जाता है फिर अजीव तत्त्व का किया जायगा।

उसके बाद क्रम से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का कथन किया जायगा । जीव का निरूपण सबसे प्रथम रखने का कारण भी यही है कि सम्पूर्ण तत्त्वों का आधार मुख्य-रीति से जीव ही पड़ता है । सातों तत्वों में जीव का ही सम्बन्ध चला जाता है।

+ जीव तत्त्व -

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान् ।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद्-द्रव्यमव्ययम् ॥30॥
साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित् ॥31॥
असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥32॥
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद्-द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥33॥

अन्वयार्थ : जीव द्रव्य स्वतः-सिद्ध है । इसकी आदि नहीं है इसीप्रकार अन्त भी नहीं है । यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्मात्मक है इसीलिये यह नाश-रहित द्रव्य है ।

यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है । विश्व (जगत्) रूप है परन्तु

विश्व में ठहरा नहीं है । सबसे उपेक्षा रखनेवाला है, तो भी सबका जाननेवाला है ।

यह जीव असंख्यात प्रदेशवाला है । तथापि अखण्ड द्रव्य है अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सम्पूर्ण दव्यों से यह भिन्न है तथापि उनके बीच में स्थित है ।

शुद्ध नय की अपेक्षा से यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं है, तथापि पर्याय दृष्टि से यह जीव दो प्रकार है एक मुक्त जीव दूसरा अमुक्त जीव ।

+ संसारी जीव का स्वरूप -

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
मूर्छितोनादितोष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ॥34॥

अन्वयार्थ : जो आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है, वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है और अनादिकाल से ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मों से मूर्छित हो रहा है ।

+ जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है -

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥35॥

अन्वयार्थ : यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है । इसलिये दोनों का सम्बन्धरूप बंध भी अनादि है ।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोषएव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥36॥

अन्वयार्थ : जीव और कर्म दोनों का सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है । यह सम्बन्ध उसीप्रकार है जिसप्रकार कि कनकपाषाण का सम्बन्ध अनादि-कालीन होता है । यदि जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

+ अन्योनयाश्रय दोष -

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम् ॥37॥

अन्वयार्थ : यदि जीव पहले कर्म-रहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होने पर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किसप्रकार हो सकता हैं ?

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥38॥

अन्वयार्थ : यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादि से सदा शुद्ध ही रहता है, ऐसा कहनेवाले के

मत में आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध भी नहीं बनेगा । फिर तो बिना कारण जिसप्रकार आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है उसीप्रकार क्रोधादिक भी आत्मा के स्वाभाविक गुण ही ठहरेंगे ।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥39॥

अन्वयार्थ : यदि पुद्गल को अनादि से शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्था में भी उसका आत्मा से बन्ध माना जाय तो वह बन्ध सदा रहेगा, क्योंकि शुद्ध पुद्गल रूप हेतु के सद्भाव को कौन हटानेवाला है ? पुद्गल की शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सकती है, और हेतु की सत्ता में कार्य भी रहेगा ही ।

+ सारांश -

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥40॥

अन्वयार्थ : इसलिये जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकाल से बन्धरूप है यह बात सिद्ध हो चुकी । जो पहले शंकाकार ने जीव-कर्म का सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेष से) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका । सादि सम्बन्ध मानने से इतरेतर (अन्योन्याश्रय) आदि अनेक दोष आते हैं तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता ।

+ जीव की अशुद्धता का कारण -

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम् ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥41॥

अन्वयार्थ : **[प्रत्युपकारिवत्]** परस्पर उपकारक की तरह **[जीवस्य]** जीव के **[अशुद्धरागादिभावानां]** अशुद्ध रागादिक भावों का कारण कर्म है और **[तस्य कर्म]** उस द्रव्य-कर्म का कारण **[रागादिभावाः]** रागादिक भाव है ।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धःपुनस्ततः ॥42॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धी जीवकर्मणोः ।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥43॥

अन्वयार्थ : **[पूर्वकर्मोदयाद्भावो]** पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से रागादिक भाव होते है और **[भावात्प्रत्यग्रसंचयः]** उन रागादिक भावों से नवीन कर्मों का संचय होता है तथा **[तस्य पाकात्]** उन नवीन कर्मों के उदय से **[पुनः भावः]** फिर रागादिक भाव होते है और **[ततः भावात्]** उन रागादिक भावों से **[पुनः बन्धः]** फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता है **[एव]** इसप्रकार **[संतानत]** सन्तान परम्परा से जो **[जीवकर्मणोः अनादिसम्बन्धः]** जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध है वही **[ससारः]** संसार है (व) तथा **[सः]** वह संसार **[सम्यग्दृगादिना विना]** सम्यग्दर्शनादिक के बिना **[दुर्मोच्यः]** छूट नहीं सकता है ।

+ केवल प्रदेशों के सम्बन्ध को बन्ध नहीं कहते हैं -

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः ।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तदद्वयोरिति ॥44॥

अन्वयार्थ : **[इति]** इसप्रकार **[तदद्वयोः]** उन जीव और कर्मों के **[अशुद्धैः भावे]** अशुद्ध भावों से **[सापेक्षः]** अपेक्षा रखेनवाला **[स बन्ध अपि]** वह बन्ध भी **[केवलं]** केवल **[प्रदेशानां]** प्रदेशों के **[सम्बन्धमात्रत]** सम्बन्धमात्र से ही **[न स्यात्]** नहीं होता है ।

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्-द्वयोः प्रथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥45॥

अन्वयार्थ : **[तद्-द्वयोः]** उन दोनों जीव और कर्मों में **[पृथक]** भिन्न-भिन्न **[मिथः]** परस्पर में **[बन्धाधिकारिणी]** बन्ध को कराने वाली **[अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्त]** चुम्बक-पत्थर के द्वारा खिंचनेवाली लोहे की सूई के समान (आकर्षक तथा आकृष्यरूप) **[विभवाख्या शक्तिः अस्ति]** विभाव नाम की शाक्ति है ।

+ बन्ध के प्रकार -

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ।

प्रत्येकं तदद्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥46॥

अन्वयार्थ : **[अर्थतः]** वास्तव में **[भावद्रव्योभयात्मकः]** भाव द्रव्य और उभय इस तरह **[बन्धः त्रिविध]** बन्ध तीन प्रकार का है उनमें से **[क्रमात् प्रत्येक तद्द्वयं यावत्]** क्रम से भाव-बन्ध तथा द्रव्य-कर्मबन्ध ये दो बन्ध प्रत्येक रूप से स्वतन्त्ररूप से होते हैं और **[तृतीयः द्वन्दज]** तीसरा उभय बंध दोनों के मेल से होता है ।

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छाक्तिरेव वा ॥47॥

अन्वयार्थ : **[यः रागात्मा भावबन्ध]** जो रागादिरूप भाव-बन्ध है **[सः जीवबन्धः इति स्मृतः]** वह जीव-बन्ध कहलाता है और **[पौद्गलिकः पिण्डो द्रव्यं]** कर्मरूप पौद्गलिक पिंड को द्रव्य-बन्ध **[वा]** अथवा **[तच्छक्तिः एव बन्धः]** कर्म की शक्ति का ही नाम द्रव्य-बन्ध है ।

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्-द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्य बन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्तत ॥48॥

अन्वयार्थ : **[च]** तथा **[तद्-द्वयोः]** उन जीव और कर्मों के **[देशानां]** प्रदेशों का **[मिथः]** परस्पर में **[भावबन्धनिमित्ततः]** भाव-बन्ध के निमित्त से जो **[बन्ध्य बन्धकभावः]** बन्ध्यबन्धक भाव है वह **[इतरेतरबन्धः स्यात्]** इतरेतर बन्ध (उभयबन्ध) कहलाता है ।

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भेयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः ॥49॥

अन्वयार्थ : **[स्वतस्सिद्धे]** स्वतः सिद्धि से तथा **[स्वानुभवगर्भेयुक्तेः]** स्वानुभव सहित युक्तियों से **[वा]** और **[चित्समक्षोपलब्धितः]** स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से **[जीवकर्मणोः अपि]** जीव और कर्म का **[अस्तित्वं]** अस्तित्व **[असिद्धं न]** असिद्ध नहीं है ।

अहम्प्रत्ययवेद्यत्त्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥50॥

अन्वयार्थ : **[अहम्प्रत्ययवेद्यत्त्वात्]** अहं प्रत्यय वेद्यरूप (स्व-संवेदन) **[अन्वयात्]** अन्वय से **[जीवस्य]** जीव का **[अस्तित्व]** अस्तित्व सिद्ध होता है और **[हि]** निश्चय से **[एकः दरिद्रः]** कोई दरिद्री **[च]** तथा **[एकः श्रीमान्]** कोई धनवान होता है **[इति]** इसलिए (इस दशा की विचित्रता से) **[कर्मण]** कर्म का **[अस्तित्व]** अस्तित्व सिद्ध होता है ।

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥51॥

अन्वयार्थ : **[यथा]** जैसे **[अनयोः]** जीव और कर्म का **[अस्तित्वं]** अस्तित्व **[स्वतः सिद्धं]** स्वतः

सिद्ध है **[तथा]** वैसे ही **[सयोगः आपि]** उन दोनों का संयोग भी स्वतः सिद्ध है **[अन्यथा]** नहीं तो (यदि उनका संयोग स्वत: सिद्ध नहीं माना जाय तो) **[कर्तृभोक्त्रादिभावानाम्]** उनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि भावों की **[अनुपपत्तितः]** उपपत्ती नहीं बन सकेगी ।

+ शंका - मूर्तिक का ही मूर्तिक के साथ बंध होता है, अत: जीव-पुद्गल का बंध सम्भव नहीं -

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्वयणुकादिवत् ।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥52॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[द्वयणुकादिवत्]** जैस द्वयणुक आदि स्कंधों में मूर्तिमान् परमाणुओं का मूर्त परमाणुओं से ही बन्ध होता है वैसे ही **[मूर्त्तिमता मूर्तः बध्यते]** मूर्तिमान के साथ मूर्त का बन्ध होता है अत: **[स्फुटं]** यह स्पष्ट है कि **[मूर्तिमत् कमणा]** मूर्तिमान कर्म के साथ **[अमूर्तस्य चित बन्धः न]** अमूर्त (आत्मा) का बन्ध नहीं हो सकता है ।

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥53॥

अन्वयार्थ : **[एवं न]** ऐसा नहीं है **[यतः]** क्योंकि **[स्वतः सिद्धः स्वभाव]** अनादिकाल के बन्धरूप स्वतः सिद्ध स्वभाव **[अतर्कगोचरः]** तर्क विषय नहीं होता है **[तस्मात्]** इसलिये **[सः]** वह स्वतः सिद्ध स्वभाव **[आक्षेपं न अर्हति]** अक्षेप करने योग्य नहीं है **[व]** और **[चेत्]** चाहो तो **[परीक्षां अर्हति]** उसकी परीक्षा की जा सकती है ।

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्ताम् ॥54॥
तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ॥55॥
चेद् बुभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥56॥

अन्वयार्थ : **[यथा]** जैसे **['यत्']** जो **[अग्नेरौष्ण् लक्ष्म]** अग्नि का उष्णतारूप लक्षण है **[तत्]** वह **[हि]** निश्चय से **[केन अपि अर्जितं न]** किसी ने भी बनाया नही हैं किंतु **[स्वभावात् वा एवं विधः]** स्वभाव से ही वह ऐसा है **[न चेत्]** यदि ऐसा नहीं मानते हो तो **[स्पर्शेन स्पृश्ताम्]** छूकर देख लो **[तथा]** वैसे ही **[जीवपुद्गलकर्मणोः]** जीव और पुद्गलस्वरूप कर्मों का **[बन्धः]** बन्ध **[स्वतः अनादिः]** स्वयं अनादि है इसलिय **[कुतः]** क्यों हुआ, **[केन कृतः]** किसने किया, **[कुत्र]** कहाँ हुआ **[अयं प्रश्नः]** यह प्रश्न **[व्योमपुष्पवत्]** आकाश के फूल की तरह व्यर्थ है ।

[चेत्] यदि **[तथा वा स्यात् अन्यथा वा]** जीव कर्मों का सम्बन्ध अनादि है **[वा]** सादि है **[इति]** यह **[वुभुत्सा]** जानने की इच्छा **[ते चित्ते अस्ति]** तेरे हृदय में हो तो **[स्वानुभूति सनाथेन प्रत्यक्षेण]** स्वानुभव प्रत्यक्ष से **[विमृश्यतां]** परीक्षा कर ली जावे ।

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्त्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥57॥

अन्वयार्थ : **[वस्तुतः]** वास्तव में **[मतिज्ञानं]** मातिज्ञान (च) और **[श्रुतज्ञानं]** श्रुतज्ञान **[अमूर्तं अस्ति]** अमूर्त हैं किंतु **[तत्]** वह दोनों प्रकार का ज्ञान **[समुर्तेन मद्यादिना]** मूर्तिक मद्य आदि के सम्बन्ध से **[तत्पाकानुसारि स्यात्]** मद्यादिक के परिपाक के अनुसार मूर्च्छित हो जाता है ।

नासिद्धं तद्यथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्-द्वयम् ॥58॥

अन्वयार्थ : **[यथा दृष्टोपलब्धितः]** जैसे कि लोक में देखा जाता है यदि उसके अनुसार वास्तव में देखा जावे तो **[तथायोगात्]** मद्यादिक के सम्बन्ध से **[तत्]** वे दोनों (मति और श्रुतज्ञान) मूर्च्छित हो जाते हैं यह कथन **[असिद्ध न]** असिद्ध नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[तद्-द्वय]** वे दोनों (माति और श्रुतज्ञान) **[मद्यादिनाविना]** मद्यादिक के बिना **[तद्विशिष्टं न]** मद्य पीने वाले के समान मलिन (विकारयुक्त) नहीं होते हैं ।

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥59॥

अन्वयार्थ : **[अपि च]** और **[यत् ज्ञानद्वयं]** जो उन दोनों ज्ञानों को **[मूर्त उक्तं]** मूर्तिक कहा है

[तत् तु उपचारतः] वह तो केवल उपचार से कहा है **[तत्वात्]** वास्तव में **[तत् ज्ञानं तथा न]** वे दोनों ज्ञान मूर्तिक नहीं है **[हि]** क्योंकि **[वस्तुसीम्न; अनतिक्रमात्]** कोई भी पदार्थ पर के सम्बन्ध से अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता है ।

नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥60॥

अन्वयार्थ : **[अपि च]** तथा **[मूर्तं]** मति और श्रुतज्ञान मूर्तिक है **[अय च उपचारः]** यह उपचार **[असिद्धः न]** असिद्ध नहीं है **[यतः]** क्योंकि **[तत्वतः]** वास्तव में **[वस्तुशक्तीनां वैचित्र्यात्]** वस्तुओं के गुणों में विलक्षणता होती है इसलिये यह स्वभाव उन वस्तुओं का **[स्वतः स्वस्यापराधतः]** स्वयंसिद्ध (स्वभाव का) अपराध है ।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥61॥

अन्वयार्थ : **[अनादिसिद्धस्यापि सतः]** स्वतः अनादिसिद्ध भी सत् में **[पारिणामिकशक्तितः]** परिणमनशीलता से **[स्वाभाविकी क्रिया]** स्वाभाविकी क्रिया (व) और **[वैभाविकी क्रिया]** वैभाविकी क्रिया **[अस्ति]** होती है ।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥62॥

अन्वयार्थ : **[सतः वैभाविकी क्रिया]** द्रव्य की वैभाविकी क्रिया **[पर परायत्ता न स्यात्]** केवल पराधीन नहीं होती है **[यरमात्]** क्योंकि **[सतः]** द्रव्य की **[असती शाक्ति]** अविधमान शक्ति **[कर्तुमन्यैर्न शक्यते]** दूसरों के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती है ।

+ शंका - ज्ञान स्वाभाविक ही होता है, वैभाविक नहीं -

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी ।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥63॥
अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः ।
ज्ञेयाकाराक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥64॥
तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः ।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥65॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[चेत]** यदि **[वैभाविकभावाख्या क्रिया पारिणामिकी]** वैभाविकी क्रिया भी अनादि सत् में परिणमनशीलता से होती है तो **[हि]** निश्चय से **[स्वाभाविक्याः क्रियायाः]** उसमें, स्वभाविकी क्रिया से **[विशेषभाक्]** विशेषता को रखनेवाला **[कश्च**

शेषः] कौनसा विशेष भेद रहेगा ?

[अपि च] तथा **[अर्थपरिच्छेदि ज्ञानं]** पदार्थों का जाननेवाला ज्ञान **[चितः]** आत्मा का **[स्वं लक्षणं]** स्व-लक्षण है इसीलये **[अस्य च]** इस ज्ञान की यह **[ज्ञेयाकाराक्रिया]** ज्ञेय के आकार होनेरूप क्रिया **[कुतो वैभाविकी क्रिया]** किस तरह से वैभाविकी क्रिया हो सकती है ।

[तस्मात्] इसलिए **[यथा]** जैसे **[घटाकृत्या]** घटरूप ज्ञेयाकार होने से **[तत् घटज्ञानं]** वह घट का ज्ञान **[घटः न]** घट नहीं हो जाता है वैसे ही **[मद्याकृत्या]** मद्य के अनुभव से **[ज्ञानं]** ज्ञान **[न तन्मयम्]** मद्यमय नहीं हो जाता है किंतु **[ज्ञान]** ज्ञान **[ज्ञान]** ज्ञान ही रहता है ।

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥66॥

अन्वयार्थ : [एवं न] ऐसा नहीं है **[यतः]** क्योंकि **[बद्धाबद्धावबोधयोः]** बद्ध और अबद्ध ज्ञान में **[विशेषोस्ति]** भेद है उनमें से **[मोहकर्मावृतो बद्धः]** मोहनीय कर्म से आवृत ज्ञान बद्ध है तथा **[स्यादबद्धस्तदत्ययात्]** उस (मोहनीय कर्म) से रहित ज्ञान अबद्ध है ।

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्-द्विषद्यथा ॥67॥

अन्वयार्थ : [यत् ज्ञानं] जो ज्ञान **[मोहकर्मावृतं]** मोह-कर्म से युक्त है वह **[यथा]** जैसे **[इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं]** इष्ट और अनिष्ट अर्थ के संयोग से स्वयं **[रज्यद्-द्विषद्यथा]** राग-द्वेषमय होता

है वैसे ही **[प्रत्यर्थं परिणामि]** प्रत्येक पदार्थ का विषय करनेवाला होता है (युगपत् सब पदार्थों को विषय करनेवाला नहीं होता है ।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा ।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥68॥

अन्वयार्थ : **[यथा तत्र]** जैसे उन (बद्ध और अबद्ध) ज्ञानों में **[मोहकर्मातिगं ज्ञानं]** मोह-कर्म के नाश से व्यक्त होनेवाला ज्ञान **[अबद्ध स्यात्]** अबद्ध हो जाता है तथा **[एतत् एव]** यही ज्ञान **[क्षायिकं शुद्धं]** क्षायिक, शुद्ध और **[लोकालोकावभासकम्]** लोक व अलोक का प्रकाशक है ।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्-दृष्टोपलब्धितः ।
शीतोष्णानुभवः स्वास्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥69॥

अन्वयार्थ : **[एतत्]** यह उक्त कथन **[सिद्धदृष्टान्तात्]** प्रसिद्ध इस दृष्टांत से और **[दृष्टोपलब्धितः]** प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण **[असिद्ध न]** असिद्ध नहीं है क्योंकि **[स्वस्मिन]** अपने में **[शीतोष्णानुभवः]** शीत तथा उष्ण का अनुभव होता है किंतु **[तज्ज्ञे परात्मनि]** उस सबके जाननेवाले परमात्मा में **[न स्यात्]** नहीं होता ।

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तज्ञानद्वयं यथा ।
अस्त्यमूर्तोपी जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥70॥

अन्वयार्थ : **[ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो]** इसालिये यह सम्यग्दृष्टान्त सिद्ध हुआ कि **[यथा]** जैसे **[ज्ञानद्वय अमूर्तं सत्]** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त होते हुए भी **[मूर्तं अस्ति]** मूर्त कहलाते हैं (तथा) वैसे ही **[अमूर्तः जीवः अपि]** अमूर्त जीव भी **[बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः]** मूर्त कर्म से बद्ध होता है ।

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः ।
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमत् ॥71॥

अन्वयार्थ : **[अथ]** अब **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[अर्थतः]** वास्तव में **[बद्धत्वं किं नाम]** बद्धत्व किसे कहते है और **[अशुद्धत्वं किं नाम]** अशुद्धत्व किसे कहते हैं **[इति]** इस विषय में **[संदिग्ध कश्चित् वावदूकः]** संदेह रखनेवाले किसी वादी को **[क्रमात्]** क्रम से **[बोध्यः]** समझाया जाता है ।

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी ।
तद्गुणाकारसंक्रातिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥72॥

अन्वयार्थ : **[अर्थात्]** वास्तव में **[या]** जो **[वैभाविकी शक्ति]** वैभाविकी शक्ति है **[सा]** वह **[उपयोगिनी चेत्]** यदि उपयोगवाली-चरितार्थ हो तो **[अन्यहेतुक तद्गुणाकारसंक्राति]** जो पर-द्रव्य के

निमित्त से जीव और पुद्गल के गुणों में संक्रमण होना है **[बन्धः स्यात्]** वह बन्ध कहलाता है ।

तत्र बन्धे न हेतुःस्याच्छक्ति वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥73॥
अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्-द्रव्योपजीविनी ।
सा चेन्द्वन्धस्य हेतुःस्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥74॥
उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारणी ।
सैव बन्ध्य हेतुश्चेत्सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥75॥

अन्वयार्थ : **[तत्र बन्धे परं]** उस बन्ध में केवल **[वैभाविकी शक्तिः]** वैभाविकी शक्ति **[हेतुः न स्यात्]** कारण नहीं है और **[न उपयोगः अपि]** न केवल उसका उपयोग भी कारण है **[किंतु तत्]** किंतु वह **[परायत्त]** परस्पर में एक-दूसरे के आधीन होकर रहना **[प्रयोजक]** कार्यकारी है ।

[या वैभाविकी शक्ति] यदि वैभाविकी शक्ति **[तद्-द्रव्योपजीविनी अस्ति]** जो उन (जीव और पुद्गलों) में सदैव रहनेवाली है **[सा चेत्]** वह (शक्ति) यदि **[बन्धस्य हेतुः]** बंध का कारण मानी जायगी तो **[अर्थात्]** वास्तव में **[मुक्तेरसंभवः]** मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

[शक्तेः] शक्ति की **[स्वार्थाधिकारणी]** अपने विषय में अधिकार रखनेवाली **[अभिव्यक्तिः]** व्यक्तता **[उपयोग स्यात्]** उपयोग है और **[चत्]** यदि **[सा एव]** वह शक्ति की अभिव्यक्ति ही बन्ध का कारण मानी जाएगी तो **[सर्वः बन्धः समस्यतां]** सभी प्रकार का बन्ध उसका उसी में समझा जाएगा ।

तस्मात्तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोपराधवान् ॥76॥
नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा ।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥77॥
तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः ।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥78॥

अन्वयार्थ : **[तस्मात्]** इसलिए **[तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये]** उस बन्ध की कारणभूत सम्पूर्ण सामग्री के मिलने पर **[स्वाकारस्य]** अपने-अपने आकार का **[परायत्ता]** परद्रव्य के निमित्तवश **[तद्गुणाकृतिः]** जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणाकाररूप होता हुआ (तद्गुणसंक्रमण / विभाव / विकार) **[तया]** उसके द्वारा **[अपराधवान्]** यह रागी-द्वेषी जीव **[बद्धः]** बंधता है ।

[सिद्धसंदृष्टितः] प्रसिद्ध इस दृष्टांत से **[तत्परायत्त]** वह जीव का परवश होकर रहना **[असिद्धं न]** असिद्ध नहीं है । **[यथा]** जैसे कि **[अनात्मवित् आत्मा]** अनात्मज्ञानी (अज्ञानी) आत्मा **[आत्मान् शीतं अपि उष्णं इव कुर्वन्]** आत्मा को शीत और उष्ण करता है ।

[तद्यथा] यद्यपि **[शीतः च उष्णः]** शीत और उष्ण ये **[अखिल गुण]** सब गुण **[मूर्तद्रव्यस्य]** मूर्त द्रव्य के हैं परन्तु **[अमूर्तस्य च अपि आत्मनः]** अमूर्त भी आत्मा के **[क्वचित्]** कभी (अज्ञान अवस्था में) **[शीतोष्णानुभवः]** शीत और उष्ण का अनुभव होता है ।

+ शंका - क्या वैभाविकी शक्ति दो के संयोग में ही होती है ? -

ननु वैभाविकी शाक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥79॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि यदि **[वैभाविकी शक्तिः]** वैभाविकी शाक्ति **[अन्ययोगत]** जीव और पुद्गल में परस्पर के योग से **[तथा स्यात्]** बन्ध कराने में समर्थ होती है तो **[पर योगात् विना किं तथा न स्यात्]** क्या परयोग के बिना वह बन्ध कराने में समर्थ नहिं होती हैं ? **[वा]** अथवा **[अन्यथा अस्ति]** अन्यथा होती है ।

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात ॥80॥

अन्वयार्थ : **[सत्यं]** तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु **[शक्तित्वात्]** शक्ति होने के कारण **[शुद्धशक्तिवत्]** स्वाभाविकी शक्ति की तरह **[शक्तिः]** वैभाविकी शाक्ति भी **[तथानित्या]** वैसी ही नित्य रहती है कारण **[अथ अन्यथा]** यदि ऐसा नहीं हो (शक्ति को अनित्य मानें) तो **[क्रमात्]** क्रम-क्रम से **[शक्तिनां नाशत]** शक्तियों (गुणों) के नाश से **[सतः नाश]** सत् (द्रव्य) के नाश का प्रसंग आवेगा ।

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥81॥

नासिद्धोसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा ।
वह्नियोगाज्जलंचोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥82॥

अन्वयार्थ : **[किन्तु]** किन्तु **[तस्याः]** उस (वैभाविकी शक्ति) का **[शुद्धात् अन्य तथाभावः]** वह अशुद्ध परिणमनरूप विभावभाव **[अन्यहेतुकः]** पर-निमित्त से होता है और शुद्ध अवस्था में **[तन्निमित्ताद्विना]** उस निमित्त के अभाव में उसका **[स्वतः केवलं]** स्वयं केवल **[शुद्धः भावः स्यात्]** शुद्ध ही परिणमन होता है ।

[असौ सिद्धांतः] यह उक्त सिद्धांत **[असिद्ध न]** असिद्ध नहीं है **[हि]** क्योंकि **[सिद्धः संदृष्टित]** इस दृष्टांत से सिद्ध होता है **[यथा]** जैसे कि **[वह्नियोगाज्जलंचोष्णं]** अग्नि के सम्बन्ध से जल उष्ण हो जाता है **[च]** और **[तदयोगतः]** उस अग्नि का सम्बन्ध न रहने से वह जल स्वभाव से शीत रहता है ।

+ शंका -- स्वाभाविक तथा वैभाविक दोनों ही शक्तियां स्वतन्त्र रूप से मा तो क्या हानि है ? -

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत् ।
एकः स्वाभाविकी भावो भावो वैभाविकोपरः ॥83॥
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम् ।
स्वाभाविकि स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥84॥
सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम् ।

अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥85॥
अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥86॥
दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ॥87॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[एवं च]** उपर्युक्त इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि **[शक्ति एका च]** शक्ति एक है और **[तद्भावः द्विविध]** उसका परिणमन दो तरह का होता है । **[एकः स्वामभाविकः भावः]** एक स्वाभाविक भाव तथा **[अपर]** दूसरा **[वैभाविकः भावः]** वैभाविक भाव इसलिये **[चेत्]** यदि **[सतः]** द्रव्य की **[द्वे शक्ति]** स्वाभावि की और वैभाविकी दोनों ही शक्तियां **[अवश्य]** स्वतन्त्र रूप से **[स्त]** मानी जावें तो **[सतां]** द्रव्यों की **[का क्षतिः]** क्या हानि है क्योंकि **[हि]** निश्चय से द्रव्य में **[स्वै भावे: स्वाभाविकी]** अपने-अपने स्वभावों से स्वाभाविकी शक्ति तथा **[स्वै विभावै विभावजा]** अपने-अपने विभावों से वैभाविकी शक्ति बनी रहेगी कारण कि **[पुद्गलात्मनां कर्मणां]** पुद्गलरूप कर्मों के **[सद्भावे]** सद्भाव में **[अथ]** अथवा **[असद्भावे अपि]** असद्भाव में भी **[शुद्धैः भावे: विराजिता]** अपने शुद्ध परिणमन से युक्त **[स्वाभाविकी शक्तिः अस्तु]** स्वाभाविकी शक्ति सदैव रहो तथा **[वैभाविकी शक्तिः]** वैभाविकी शक्ति **[संयोगात्]** पर-संयोग से तो **[पारिणामिकी अस्तु]** पारिणामिकी हो और **[कर्मणां उदयाभावे]** कर्मों का उदय नहीं रहने पर **[सा]** वही (वैभाविकी शक्ति) **[पारिणामिकी न स्यात्]** पारिणामिकी-परिणमनशील नही होगी **[यथा]** जैसे कि **[चक्रं]** कुम्हार का चक्र **[दण्डयोगात्]** दण्ड के सम्बन्ध से **[आत्मना आत्मनि बम्भ्रमति]** अपने द्वारा अपने में बार-बार घूमता है तथा **[दण्डयोगात् विना]** दण्ड का योग न मिलने से **[चक्रं]** वही चक्र **[चित्र वा]** चित्र की तरह **[व्यवतिष्ठते]** स्थिर रहता है ।

नैवं यतोस्ति परिणाम शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥88॥

अन्वयार्थ : [एवं न] ऐसा (पर निमित्त के बिना वैभाविकी शक्ति को शुद्ध अवस्था में अपीणमनशील मानना) नहीं है **[यतः]** क्योंकि जब **[स्तः अखिलं शक्ति जातं]** पदार्थ की सर्व शक्तियां **[परिणामि अस्ति]** सदैव परिणमनशील होती है तो फिर **[वैभाविकी शाक्ति]** वैभाविकी शाक्ति **[वै]** निश्चय से **[पारिणामिकी कथं न स्यात्]** शुद्ध अवस्था में परिणमनशील क्यों नहीं होगी ।

पारणामात्मिका काचिच्छाक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।
तद्-ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्टयभावतः ॥89॥

अन्वयार्थ : [काचित् शक्तिः पारिणामिका च अपारिणामिकी] कोई शक्ति परिणमनशील और कोई शक्ति अपरिणमनशील होती है इसप्रकार के **[संदृष्टयभावतः]** उदाहरण का अभाव होने से **[तद् ग्राहक प्रमाणस्य अभावात्]** उस सिद्धांत को विषय करनेवाले प्रमाण का अभाव है ।

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्सनकर्मणाम् ॥90॥

अन्वयार्थ : [तस्माद्वैभाविकी शक्तिः] इसलिये वैभाविकी शाक्ति **[कृत्सनकर्मणाम् अभावे]**

सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने पर **[भावैः]** अपने भावों से **[स्वयं स्वाभाविकी परिणामात्मिका भवेत्]** स्वाभाविक परिणमनशील रहती है ।

+ वैभाविक और स्वाभाविक को युगपत् मानने में दोष -

यौगपद्ये महान् दोषःस्तद्-द्वयस्य नयादापि ।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥92॥

अन्वयार्थ : **[तद्-द्वयस्य]** उन दोनों (श्वाभाविकी और वैभाविकी शाक्ति) का **[यौगपद्ये]** एक काल में सद्भाव मानने पर **[नयात् अपि]** न्याय से भी **[महान् दोषः स्यात्]** बडा भारी दोष आएगा क्योंकि युगपत स्वाभाविक और वैभाविक भाव के मानने से **[कार्यकारणयोर्नाशो]** कार्य-कारण भाव के नाश का तथा **[स्याद्बन्धमोक्षयोः नाशः]** बन्ध व मोक्ष के नाश होने का प्रसंग आता है ।

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादवाधितम् ॥93॥

अन्वयार्थ : **[एकशक्ते द्विधाभावो न]** तथा एक काल में एक शक्ति के दो तरह के परिणमन नहीं हो सकते हैं क्योंकि एक शक्ति के युगपत् दो परिणमन मानने से **[यौगपद्यानुषङ्गतः]** युगपत् दोनों प्रकार के परिणमन के सद्भाव का प्रसंग आता है तथा **[तत्र सति]** ऐसा होने पर **[विभावस्य]** विभाव परिणमन में भी **[अवाधित नित्यत्वं स्यात्]** अबाधित नित्यत्व का प्रसंग आता है ।

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥94॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसंकरः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥95॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किंच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥96॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥97॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥98॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतुर्न स्यात्किंवा वतेति चेत् ॥99॥

अन्वयार्थ : **[ननु च]** शंकाकार का कहना है कि **[यथा अनादितः]** जैसे अनादि से **[वस्तुजातं अहेतुकं सिद्धं]** सम्पूर्ण पदार्थ किसी अन्य कारण से उत्पन्न न होने के कारण स्वत:सीद्ध है **[तथा]** वैसे ही

उनका **[परं जातं नाम]** प्रतिसमय परिणमनशील होना भी **[अहेतुक स्वत:सिद्धं]** किसी अन्य कारण से उत्पन्न न होने के कारण स्वतःसिद्ध है (जैसे द्रव्य स्वत:सिद्ध है वैसे ही उनका परिणाम भी स्वतःसिद्ध है) ।

इसलिए **[तत्]** वह परिणमनशील वस्तुसमूह **[अवश्यं अवश्य स्यात्]** अवश्य स्वतंत्र है (अपने अपने परिणमन में कोई किसी की आवश्यकता नहीं रखता है क्योंकि **[अन्यथा]** यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो **[दुर्वार]** अनिवार्य तथा **[निग्रहास्पदं]** हेय **[सर्वसंकरः]** सर्वसंकर दोष **[च]** और **[सर्वशून्यदिदोष]** सर्व शून्यता आदि दाषों का प्रसंग आवेगा ।

[ततःसिद्धं] इसलिये सिद्ध होता है कि **[यथावस्तु]** अपने अपने वस्तु उल्लंघन नहीं करनेवाला **[चिज्जडात्मक]** चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक **[यत्किंचित्]** जो कुछ भी है **[तत्सर्वै]** वह सब (सम्पूर्ण पदार्थ) **[स्वस्वरूपाद्यै:]** अपने स्वरूप आदि से **[स्वत:]** स्वयं **[अनन्यगतिः स्यात्]** एक दूसरेरूप नहीं हो जाते है (कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता है ।

[अयं अर्थ:] पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि **[कः अपि]** कोई भी पदार्थ **[कस्य अपि]** किसी पदार्थ को **[हि]** वास्तव में **[द्रव्यत:]** द्रव्य से **[क्षेत्रत]** क्षेत्र से **[कालात्]** काल से और **[भावात्]** भाव से **[देशमात्र]** अंशमात्र भी **[न अश्नुते]** अपने में नहीं मिला सकता है क्योंकि **[सीम्नः अनतिक्रमात्]** पदार्थ अपने स्वभाव की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है । तथा

[व्याप्यव्यापक भावस्य अभावे अपि] जीव और पुद्गल में व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव होने पर भी **[तत्र]** आत्मा के **[विभावस्य हेतु]** विभाव परिणमन में कारण **[तत् मूर्तिमत् द्रव्यं अपि]** वह मूर्तिक द्रव्य ही क्यों होता है **[अपरं कि न]** अन्य द्रव्य क्यों नहीं है ?

यदि कदाचित् कहा जाय कि आत्मा में **[सन्निकर्षतः]** मूर्तिक द्रव्य का सन्निकर्ष होने से (आत्मा के साथ मूर्त-द्रव्य का एकक्षेत्रावगाहरूप होने से वह मूर्त-द्रव्य जीव के **[वैभाविकस्य भावस्य हेतु: स्यात्]** वैभाविक भाव में कारण हो जाता है तो **[वत]** खेद है कि **[तत्रस्थ अपर अपि]** वहीं पर रहनेवाला विस्रसोपचयरूप अन्य मूर्तद्रव्य समुदाय भी **[हेतु: किं वा न स्यात्]** विभाव परिणमन का कारण क्यों नही होता है **[इति चेत]** यदि ऐसा कहा तो ?

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।

स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभि: ॥100॥
बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेष: पारमार्थिक: ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तित: ॥101॥

अन्वयार्थ : **[सत्यं]** सत्य है कि **[चिद्द्रव्य]** जीव द्रव्य **[अथ]** ओर **[मूर्तिमत्]** पुद्गल-द्रव्य **[बद्धं च अबद्धं स्यात्]** बद्ध तथा अबद्ध दोनों प्रकार के होते हैं क्योंकि **[स्वीयसम्बन्धिभिः बद्ध]** जिनसे जिनका परस्पर में बन्ध्य-बन्धक भाव है उनसे वे बद्ध हैं और **[परबन्धिभि; अबद्धं]** जिनसे जिनका बन्ध्य-बन्धक भाव नहीं उनसे वे अबद्ध हैं ।

[तयो:] उन (जीव तथा कर्मों) में **[जात्यन्तरत्वे अपि]** जाति की अपेक्षा अन्तर रहने पर भी **[हेतुमद्धेतुशक्तितः]** कार्य-कारण शक्ति से होने वाली **[बद्धाबद्धत्वयो]** बद्धता तथा अबद्धता में **[पारमार्थिकः विशेषः अस्ति]** वास्तविक भेद है ।

+ बद्ध और मुक्त का स्वरूप -

बद्ध:स्याद्बद्धयोर्भाव: स्यादबद्धोप्यबद्धयो: ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥102॥

अन्वयार्थ : **[बद्धयो: भाव बद्ध स्यात्]** एक दूसरे से बंधे हुए दोनों के भाव को बद्ध कहते हैं । **[अपि]** और **[अबद्धयोः अबद्ध स्यात्]** एक-दूसरे से नहीं बंधे हुए दोनों के भाव (अवस्था) को अबद्ध कहते हैं क्योंकि **[सानुकूलतया बन्धः]** जीव में बन्धक शक्ति तथा कर्म बंधने की शक्ति की परस्पर अनुकूलता में ही बन्ध होता है और **[प्रतिकूलयो: बन्धः न]** उन दोनों के परस्पर प्रतिकूल होने पर बन्ध नहीं होता है ।

+ बन्ध-भेद -

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम् ।
प्रत्येकं तद्-द्वयं यावत्-तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥103॥

अन्वयार्थ : **[अर्थतः]** अर्थ की अपेक्षा से **[बन्ध त्रिविधः]** बन्ध तीन प्रकार का होता है इसलिये **[तत् लक्षणत्रयं]** तीनों के लक्षण **[वाच्यं]** कहना चाहिये; उनमे से **[तत् द्वय तु यावत् प्रत्येकं]** आदि के दो-दो बन्ध तो जीव-बन्ध और कर्म-बन्ध इसतरह प्रत्येक भंग की अपेक्षा से है किन्तु उभय-बन्ध दोनों के संयोग से होता है अतः **[अधुना तृतीय उच्यते]** अब तीसरे उभय-बन्ध का स्वरूप कहा जाता है ।

+ उभय-बन्ध -

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः ।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥104॥
तद्गुणाकारसंक्रान्ति र्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमितं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥105॥

अन्वयार्थ : **[य]** जो **[जीवकर्मोभयोः]** जीव और कर्म का **[मिथः]** परस्पर **[साभिलाषुकः]** एक-दूसरे की अपेक्षा से बन्ध होता है **[सः बन्धः स्यात्]** वह उभय-बन्ध कहलाता है **[हि]** क्योंकि **[जीवः कर्म निबद्धः]** जीव कर्म से बन्धा हुआ है तथा **[तत् कर्म हि जीवबद्धं]** वह कर्म जीव से बंधा हुआ है ।

[चितः] आत्मा के गुणों का **[तद्गुणाकारसंक्रान्तिः]** उस (कर्मरूप पुद्गल) के गुणाकाररूप कथंचित संक्रमण होना **[वैभाविकः भावः]** वैभाविक भाव कहलाता है **[च]** और **[तन्निमित्तं]** उसका निमित्त **[तथा सामर्थ्यकारणम्]** तथा समर्थ कारण (प्रेरक) **[तत्कर्म]** वह द्रव्यकर्म होता है ।

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥106॥
तथाऽऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥107॥

अन्वयार्थ : [अयं अर्थः] सारांश यह है कि **[भावः एकः]** भाव एक है **[च]** और **[कर्म एकं]** कर्म एक है तथा **[अयं बन्ध द्वन्दजः स्मृतः]** यह बन्ध उन दोनों से उत्पन्न तृतीय दशारूप कहा गया है इसलिए **[यस्य कर्मणः]** जिस द्रव्य-कर्मरूप क्रोधादिक का **[तत्कार्यं]** वह कार्य है **[तस्व कर्मण कारणम्]** उस कर्म के आस्रव के लिय वह कारण होता है ।

[यथा] जैसे कि **[आदर्शे]** दर्पण में **[स्वाकाराकारसंक्रान्तं]** अपने आकार से प्रतिबिम्बित **[स्वरूपं संदधत्पुनः चक्षुः]** अपने स्परूप का प्रतिबिम्ब स्थापित करनेवाला वह चक्षु **[स्वयं कार्यं]** स्वयं कार्य है **[पुनः]** और **[हेतु]** स्वयं कारण भी है ।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।

*

.....॥108॥

अन्वयार्थ : **[अपि च]** तथा **[तत्कर्म]** वह कर्म **[अचेतनं]** अचेतन **[मूर्तं]** मूर्त और **[पौद्गलं]** पौद्गलिक है **[यथा]** जैसे कि ..

*इस पद्य का उत्तरार्ध उपलब्ध नहीं है

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्-द्रव्य कर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥109॥
चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥110॥

अन्वयार्थ : **[तत् द्रव्यकर्म]** वह द्रव्यकर्म **[जीवभावविकारस्य हेतुः स्यात्]** जीव के ज्ञानादिक भावों के विकार का कारण होता है **[च]** और **[तद्विकारः]** उस (जीव) के भावों का विकार **[तद्धेतुः]** द्रव्य-कर्म के आस्रव का कारण होता है **[यथा]** जैसे कि **[प्रत्युपकारक]** परस्पर उपकार करनेवाले एकदूसरे को कार्य-कारणरूप होते हैं ।

[तस्य चिद्विकाराकृतिः] उस जीव के विकारी भाव (क्रोधादिकरूप-रागद्वेषरूप परिणति) **[वैभाविकः भावः स्मृतः]** उसका वैभाविक भाव माना गया है और **[तन्निमित्तकः स्यात्]** उस जीव के वैभाविक भाव के निमित्त से **[पृथक्भूत अपि अर्थ]** पृथक् रहनेवाला कार्मण वर्गणारूप पुद्गल **[तन्निमित्तकः स्यात्]** उस (जीव) के वैभाविक भाव के निमित्त (ज्ञानावरणादि कर्मरूप) में परिणत हो जाता है ।

+ ऐसा होने में भी उभय-बन्ध ही कारण है -

तद्धि नोभयबन्धाद्वै वहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥111॥

अन्वयार्थ : **[हि]** निश्चय से **[तत्]** यह (द्रव्यकर्म) **[उभयबन्धात् बहिः न]** उभय-बन्ध के बिना जीव के विकार भी कारण नहीं हाता है क्योंकि **[वै]** निश्चय से **[चिरात् अपि बद्धाः]** चिरकाल से ही कर्म-परमाणुओं के साथ सम्बन्ध को प्राप्त तथा **[एकक्षेत्रस्थाः अपि]** एक-क्षेत्रावगाही होकर रहनेवाली भी विस्रसोपचयरूप कार्माण वर्गणायें **[अबद्धवत्]** अबद्ध कार्माण वर्गणाओं की तरह **[हेतवः न भवन्ति]** जीव के विकार में कारण नहीं होती है ।

+ बन्ध की अविनाभाविनी अशुद्धता का लक्षण -

तन्नद्धत्त्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्त्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात्स्वतोन्यतः ॥112॥

अन्वयार्थ : **[अक्रमात्]** जिस समय बन्ध होता है उस समय **[तन्नद्धत्त्वाविनाभूतं]** बद्धता से अविनाभाव रखनेवाली **[अशुद्धत्वं स्यात्]** अशुद्धता उत्पन्न होती है **[यथा]** जैसे **[स्वतः अद्वैतात्]** स्वयं अद्वैत अवस्था से **[अन्यतः]** पर-निमित्त के कारण **[द्वैतं]** द्वैतरूप हो जाना ही **[तल्लक्षणं स्यात्]** उस अशुद्धता का स्वरूप है ।

+ आत्मा में द्विरूपता किस प्रकार की है -

तत्राऽद्वैतेपि यद्-द्वैतं तद्-द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥113॥

अन्वयार्थ : **[तत्र अद्वैते अपि]** उस अद्वैत में भी **[यत्]** जो **[द्विधा अपि द्वैतं]** दोषकारक भी द्वैत कहा जाता है **[तत् औपचारिकं]** वह औपचारिक है अर्थात् व्यवहारनय से है उनमें से **[आद्यं स्वांशसंकल्पः चेत्]** यदि अपने-अपने अंश की कल्पना करना प्रथम द्वैत है तो **[सोपाधि द्वितीयकं]** उपाधि-सहित होना द्वितीय द्वैत है ।

+ शंका - जीव-द्रव्य में सोपाधि और निरुपाधि कल्पना व्यर्थ -

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः ॥114॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥115॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंककार का कहना है कि **[सामान्यात्]** सामान्य की अपेक्षा से **[सत् एकं]** सत् एक है **[च]** और **[विशेषत]** विशेष की अपेक्षा से **[सत् द्वैतं स्यात्]** सत् द्वैतरूप है इसलिए **[सद्विशेषेऽपि]** सत् विशेष में भी (सामान्यरूप से सत् को एक तथा विशेष की अपेक्षा से सत् अनेक मानने पर भी जीव-द्रव्य में) **[सोपाधि]** सोपाधि और **[निरुपाधि]** निरुपाधि कल्पना **[कुतः अर्थतः]** किस प्रयोजन से की

जाती है ?

[अत्र च] इस विषय में **[अभिज्ञान अपि अस्ति]** दृष्टांत भी है **[यथा]** जैसे कि **[यत् रसरूपयो:]** जो रस और रूप का **[ज्ञानं]** ज्ञान होता है **[तत् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[न रूपं अय न रसो]** न रूप-स्वरूप ही हो जाता है और न रस-स्वरूप भी हो जाता है क्योंकि वह **[अर्थतः]** वास्तव में **[ज्ञानमात्रं]** ज्ञान स्वरूप ही होता है ।

नैवं यतो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वे सिद्धसाधनात् ॥116॥
तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वह्नियोगाद्धि वारिवत् ॥117॥
नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाज्ञातप्रमात्त्वतः ॥918॥

अन्वयार्थ : **[एवं न]** ऐसा नहीं है **[यत: वस्तुत:]** क्योंकि वास्तव में **[सद्विशेषेपि]** सत् के विशेष (जीव सत, अजीव सत्, आस्रव सत्, इत्यादिरूप से सत् में द्वैत) रहने पर भी **[वै]** निश्चय से **[अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां]** दोनों प्रकार के अन्वय और व्यतिरेक दृष्टांत से **[सिद्धसाधनात्]** साधन के सिद्ध होने के कारण **[विशेष: अस्ति]** विशेषता पाई जाती है ।

[तत्र] उनमें **[अन्वयः]** अन्वय दृष्टांत इसप्रकार है **[यथा]** जैसे कि **[अथोत्]** अर्थ-दृष्टि से **[ज्ञानं]** ज्ञान **[परहेतुत]** पर के निमित्त से **[अज्ञानं]** अज्ञान हो जाता है **[हि]** क्योंकि **[शीतं]** शीत-पदार्थ

[वन्हियोगात्] अग्नि के संयोग से **[वारिवत्]** जल के समान **[अशीत स्यात्]** उष्ण हो जाता है ।

[नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो] यह दृष्टांत असिद्ध नहीं है क्योंकि **[सतः ज्ञानस्य]** सम्यग्ज्ञान को **[अज्ञानतः]** अज्ञानरूप हो जाने से **[तस्य]** उसकी **[यथाजातप्रमात्त्वतः]** वास्तविक ज्ञानत्व से **[अवस्थांतर अस्ति]** भिन्न अवस्था हो जाती है ।

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्यनैवं शुद्धमेव तत् ॥119॥
तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥120॥

अन्वयार्थ : **[व्यतिरेकः अरित]** व्यतिरेक दृष्टान्त इसप्रकार है **[यथा]** जैसे कि **[स्वं आत्मविज्ञानं]** अपनी आत्मा का ज्ञान **[परहेतुत]** केवल मोहादि कर्म के निमित्त से ही **[मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यात्]** मिथ्यात्व रूप दशा से युक्त रहता है क्योंकि **[यत्]** जो ज्ञान **[एवं न]** कर्मों से आवृत नहीं होता है **[तत्]** वह ज्ञान **[शुद्ध एवं]** शुद्ध ही रहता है ।

[तद्यथा] उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि **[सार्थं सर्वार्थगोचर]** युगपत् सर्व पदार्थों को विषय करनवाला **[क्षायिक ज्ञान]** क्षायिक ज्ञान **[स्वजातिमात्रत्वात्]** केवल स्वाभाविक ज्ञान होने से **[शुद्धं]** शुद्ध है और **[निरुपाधितः अबद्धं]** रागादिरूप उपाधि से रहित होने के कारण अबद्ध है ।

+ अशुद्ध ज्ञान का स्वरूप -

क्षायोपशमिक ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बन्द्वं चाशुद्धमक्रमात् ॥121॥

अन्वयार्थ : **[क्षायोपशमिक ज्ञानं]** मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान **[सतां कर्मणां अक्षयात्]** सत्ता में रहनेवाले सर्वघाति स्पर्धकों के क्षय न होने से **[आत्मजाते: च्युते:]** स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मजाति से च्युत हो जाता है इसालिए **[एतत्]** ये सब (चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञान) **[चाशुद्धमक्रमात्]** एक साथ बद्ध और अशुद्ध कहे जाते हैं ।

+ सोपाधि और निरुपाधि रूप कल्पना के नहीं मानने में दोष -

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥122॥
अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥123॥
माभूदवा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥124॥

अन्वयार्थ : **[नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं]** ज्ञान सर्वथा शुद्ध और अशुद्ध नहीं होता है **[इति चेत्]** यदि ऐसा कहो तो **[तस्य]** उस (ज्ञान) के **[बन्धहेतोरसंभवात्]** बन्ध के कारण का **[असंभवात्]**

अभाव होने से **[बन्धः न]** बन्ध नहीं होगा तथा **[फल न]** उस बन्ध का फल भी सिद्ध नहीं होगा ।

[अथ] अथवा **[बन्ध चेत्]** यदि बन्ध होगा **[तदा]** तो **[यः बन्ध]** जो बन्ध है **[सः बन्धः एव]** वह बन्ध ही रहेगा **[अबन्धः न]** अबन्ध नहीं होगा क्योंकि **[चिद्विशेषाणां निर्विशेषात्]** चेतना की पर्यायों में किसी प्रकार का अन्तर न रहने से **[अबन्धभाक् शेषः न]** अमुक अवस्था में बन्ध नहीं होता है ऐसी कोई विशेषता न रहेगी (सब अवस्थाओं मे बन्ध होता ही रहेगा) ।

+ अबद्ध और बद्ध ज्ञान -

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥125॥
बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥126॥
सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥127॥

अन्वयार्थ : **[बन्धव्यत्ययात्]** बन्ध के अभाव होने से **[चित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कारि]** आत्मा और सर्व पदार्थों को युगपत जानने वाला **[अविकारभुक्]** निर्विकार **[अक्षयि]** अनन्त **[क्षायिकं]** क्षायिक और **[साक्षात्]** पदार्थों (स्व-पर) को प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान **[अबद्धं अस्ति]** अबद्ध कहलाता है ।

[संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः] संसाररूप कार्य के होते हुए विपरीतता पाई जाती है इसलिए **[बद्धः सर्वोपि]** सब ही संसारी जीव कर्मों से बन्धे हुए हैं अतः उनका ज्ञान **[सिद्धं सोपाधि]** कर्मरूप

उपाधि-सहित सिद्ध होता है **[तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः]** यदि ऐसा नहीं होता तो संसाररूप कार्य के होते हुए बन्ध के कारण से उत्पन्न होनेवाली जो जीव के स्वभाव की विपरीतता पाई जाती है, वह नहीं पाई जानी चाहिए ।

[एतावता] इस प्रकार से **[ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च सिद्धं]** ज्ञान सोपाधि और निरूपाधि सिद्ध होता है **[तत्र हि यत्]** उनमें से निश्चय से जो (ज्ञान) **[अशुद्धं सोपाधि]** अशुद्ध है वह सोपाधि है **[शुद्ध तत् निरुपाधि]** और जो शुद्ध (ज्ञान) है वह निरूपाधि है ।

+ बद्धता और शुद्धता एक ही प्रतीत होते हैं, क्या उनमें अंतर है ? -

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥128॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः]** उन दोनों बद्धता और शुद्धता में **[कः कः विशेषोस्ति]** क्या-क्या अंतर है **[यस्मात् अर्थात्]** क्योंकि वास्तव में **[ऐक्योपलब्धितः]** उन दोनों में एकता पाई जाने के कारण **[अनर्थांतर अस्ति]** कुछ अर्थान्तर नहीं पाया जाता है ।

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥129॥
बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।

तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥130॥

अन्वयार्थ : **[एवं न यतः]** ऐसा नहीं है क्योंकि **[हेतुमद्धेतुभावतः]** कार्य-कारणपने (कार्य-कारण भाव) से **[वा]** अथवा **[कार्यकारणभेदात्]** कार्य कारण भेद से **[द्वयो विशेषः अस्ति]** दोनों में भेद है **[यथा तल्लक्षण]** जैसे कि उनका लक्षण इस-प्रकार है ।

[परगुणाकारा पारिणामिकी क्रिया] परगुण के आकाररूप पारिणामिकी क्रिया **[बंध स्यात्]** बंध कहलाती है **[तस्यां सत्याम्]** उसी क्रिया के होने पर ही जो **[तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः]** उन दोनों (जीव और कर्म) का अपने-अपने गुणों से च्युत होना **[अशुद्धत्वं]** अशुद्धता है ।

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः ।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥131॥

अन्वयार्थ : **[बन्धहेतुः]** बंध कारण है **[च शुद्धत्वं हेतुमत्]** और शुद्धता बंध का कार्य है **[इति निर्णयः]** यह निश्चित है **[यस्माद्बन्धं विना]** क्योंकि बंध के बिना **[न स्यादशुद्धत्वं कदाचन]** कभी भी अशुद्धता नहीं होती है ।

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥132॥

अन्वयार्थ : **[कर्मणां पाकसंभवात्]** कर्मों के उदय से होने से **[कार्यरूपः स बन्धोस्ति]** वह बंध कार्यरूप है और **[तन्नवाकर्षणत्वतः]** उनके द्वारा ही नवीन कर्मों का आकर्षण होकर बंध होने से

[हेतुरूपमशुद्धत्वं] अशुद्धता कारणरूप है ।

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥133॥

अन्वयार्थ : **[तत्वतः]** वास्तव में **[इह]** यहां पर **[जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि]** शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है **[अपि च]** और **[बद्धाबद्धनयात्]** कथंचित बद्धाबद्ध नय (व्यवहारनय) से जीव **[अशुद्ध अपि]** अशुद्ध है यह भी **[असिद्ध न]** असिद्ध नहीं है ।

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वंदो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्दः सविकल्पकः ॥134॥

अन्वयार्थ : **[शुद्धनयः सर्वः]** सम्पूर्ण शुद्धनय **[एकः निर्द्वंद निर्विकल्पकः]** एक, निर्द्वंद और निर्विकल्प है तथा **[व्यवहारनय]** व्यवहारनय **[अनेक]** अनेक **[सद्वन्द]** द्वंद्व-सहित और **[सविकल्पकः]** सविकल्प है ।

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥135॥

अन्वयार्थ : **[अस्य शुद्धनयस्य]** इस शुद्धनय का विषय **[चिदात्मकः शुद्धः जीवः वाच्यः]** चेतनात्मक शुद्ध जीव कहना चाहिये कारण **[शुद्धात् अन्यत्र]** व्यवहारनय के विषय-स्वरूप **[ते जीवाद्याः]** वे जीव आदि **[नवपदार्थो स्मृता]** नौ पदार्थ कहे गये हैं ।

+ निश्चय और व्यवहारनय का विषय -

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः ।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥136॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः]** शुद्ध-नय ही साक्षात् सम्यक्त्व को प्रकटानेवाला है इसलिए **[एकः वाच्य]** एक वह (शुद्धनय) ही मानना चाहिये **[किमन्येन व्यवहारनयेन चेत्]** अन्य व्यवहार नय से क्या प्रयोजन है, यदि ऐसा कहो तो ?

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः ।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥137॥

अन्वयार्थ : **[सत्य]** ठीक है कि **[शुद्धनयः श्रेयान्]** शद्धनय ही उपादेय है **[इतरः नयः श्रेयान् न]** दूसरा (व्यवहारनय) उपादेय नहीं है **[अपि]** किन्तु फिर भी **[न्यायबलात्]** न्यायबल से अर्थात युक्ति-युक्त का होने के कारण **[इतरः नयः]** व्यवहारनय **[श्रेयान् इव अस्ति]** शुद्धनय के समान उपादेय है ।

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः ।
एक विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥138॥

अन्वयार्थ : **[तद्यथा]** पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि **[एकः जीव]** एक ही जीव **[अनादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रत]** केवल अनादिसन्तान के क्रम से होनेवाले बन्ध के पर्याय की अपेक्षा से **[विचक्षितः सन्]** विवक्षित होकर जीव के **[अमी नवपदाः स्मृता]** इन जीव आदि नव पदार्थरूप कहा जाता है ।

किंच पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः ।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥139॥

अन्वयार्थ : **[किं च]** तथा **[अमी नवपदसंज्ञकाः]** ये नव पदार्थ **[पर्यायधर्माणः]** पर्याय के धर्म है और **[अत्र]** इनमें **[पर्यायमात्रता न]** केवल पर्यायरूपता नहीं है किंतु **[उपरक्ति उपाधिः स्यात्]** उपरक्तिरूप उपाधि (कर्म का उदय) भी है ।उपाधि : जो साधन के साथ तो नियम से न रहे केन्तु साध्य के साथ नियम से रहे । जैसे 'यह पर्वत धूमवान है क्योंकि यहाँ पर अग्नि है' यहाँ पर गीला इंधन उपाधि है, क्योंकि गीला इंधन साधनरूप अग्नि के साथ नियम से नहीं रहता है, किन्तु साध्यभूत धूम के साथ अवश्य रहता है ।

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नवपदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥140॥

अन्वयार्थ : **[अत्र]** जीव आदि नव पदार्थों में **[स्वतः]** अनादिकालीन **[तथा]** वैसे **[सोपारक्तेः**

उपाधित्वं] सोपरक्ति की उपाधिता **[असिद्धं न]** असिद्ध नहीं है **[यतः]** क्योंकि **[तत् पर्यायेषु अव्याप्त]** वह उपाधिता 'व्यापक' जीव की सम्पूर्ण पर्यायों में अव्याप्त और **[नवपदव्याप्त]** नव पदों में व्याप्त है ।

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धेनुभूयते ॥141॥

अन्वयार्थ : **[चेत्]** यदि **[सोपरक्तः उपाधित्वात्]** सोपरक्ति के उपाधित्व के कारण **[अनादर विधीयते]** उसका अनादर किया जावे तो **[अमूनि एव पदानि]** ये नव पद **[क्व]** कहाँ मिलेंगे ? और उनके अभाव में **[शुद्धजीव क्व अनुभूयते]** शुद्ध जीव का भी अनुभव कहां होगा ?

+ शंका -- शुद्ध-नय ही कहना चाहिए, व्यवहारनय नहीं -

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्वतः ।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम् ॥142॥
अस्तीति चत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥143॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।

शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥144॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात् ॥145॥
उभयं चेक्रमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ 143॥
यौगपद्येपि तद्-द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥147॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्-द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥148॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥149॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[उपरक्ति अस्ति इति]** उपरक्ति है **[किंवा]** अथवा **[नास्ति इति]** नहीं है **[किंवा]** अथवा **[तत्क्रमेण उभय]** अस्तित्व नास्तित्व के क्रम से उभयरूप है **[किं]** अथवा क्या **[अक्रमेण उभयं न]** युगपत् उपयरूप नहीं है ।

[अस्ति इति चेत्] यदि जीवादिक पदार्थों में उपरक्ति का सद्भाव मानते हो **[तदा]** तो **[तस्थां सत्यां]** उसका सद्भाव होने पर **[अनादर कथं]** उसका अनादर कैसे होगा (यदि जीवादिक नव पदार्थ में

रहनेवाली उपरक्ति वास्तविक है तो जीव आदि नव पदार्थरूप ही जीव का स्वरूप क्यों नही मान लिया जाता) **[नास्ति इति चेत्]** यदि उन उपरक्ति का सद्भाव वास्तव में नहीं है तो **[अस्या असत्त्वे]** इसका असद्भाव होने पर **[नयात् अनादरः न सिद्धः]** न्यायानुसार उसका अनादर सिद्ध नहीं हो सकता है (क्योंकि जो पदार्थ खरविषाण के समान अभावरूप होते है उसका अनादर किस प्रकार किया जा सकता है । कारण कि आदर अनादर सद्भावात्मक पदार्थ का ही होता है अभावात्मक पदार्थ का नहीं) ।

[वै] निश्चय से **[तस्यां उपरक्तौ सत्याम्]** उस उपरक्ति के सद्भावात्मक होने पर शुद्धनय से **[पदानि आदेयानि न]** जीवादिक नव पदार्थ उपादेय नहीं ठहरते हैं (वे जीव के नवपद नहीं कहे जा सकते हैं) क्योंकि **[शुद्धात् अन्यत्र सर्वत्र]** शुद्ध-दव्य को छोड करके अशुद्ध सम्पूर्ण द्रव्यों में **['अस्य' नयस्य अनधिकारतः]** इस शुद्वनयय का अधिकार नहीं है (शुद्ध निश्चय नय अशुद्ध द्रव्य का ग्रहण नहीं करता है) ।

[वा] अथवा **[असत्यामुपरक्तौ]** उप्रक्ति का अभाव मानने पर **[नैवामूनि पदानि च]** ये नव पद ही नहीं बन सकेंगे क्योंकि **[हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात्]** हेतु के अभाव में अविनाभाव रखनेवाले कार्य का भी अभाव देखा जाता है ।

[इह] इन (जीवादिक नव पदों) में **[क्रमेण उभयं विवक्षितं सिद्ध चेत्]** यदि क्रमपूर्वक उपरक्ति का सद्भाव और असद्भावरूप उभय विवक्षित सिद्ध हो **[तदा]** तो **[न्यायात्]** न्यायानुसार **[शुद्धमात्र उपादेय]** केवल शुद्धांश उपादेय और **[शुद्धेतरं हेय]** अशुद्धंश हेय ठहरेगा ।

[यौगपद्ये] उन दोनों के युगपत होने पर **[अपि तद्-द्वैतं]** उन (उपरक्ति और अनुपरक्ति) का द्वैतरूप भंग ही **[न समीहितसिद्धये]** अभीष्ट सिद्धि के लिए समर्थ नहीं हो सकता है **[यतः]** क्योंकि **[केवलं शुद्धमादेयं]** केवल उपरक्ति रहित शुद्धांश उपादेय होगा और **[नादेयं तत्परं]** उससे विपरीत (उपरक्ति रहित) अशुद्धांश उपादेय नहीं होगा ।

[एकस्यैकपदे] एक द्रव्य के एक पद में **[द्वे क्रिये वा कर्मणी नस्तः]** दो क्रियाएं अथवा दो कर्म नहीं हो सकते हैं **[ततः]** इसलिए जब **[यौगपद्यं असिद्धं स्यात्]** (उपरक्ति और अनुपरक्ति का) यौगपद्य ही सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर **[द्वैताद्वैतस्य का कथा]** द्वैताद्वैत का विचार ही कैसे किया जा सकता है ?

[तत] इसलिए **[न्यायात्]** न्यायानुसार **[अनन्यगतेः]** और कोई गति न रहने से **[सम्यक्त्वगोचरः]** यथार्थ का विषयभूत **[शुद्धः]** उप्रक्ति-रहित द्रव्य ही शुद्ध है **[च]** और **[तद्वाचकश्च यः**

कोपि] उस शुद्ध द्रव्य का वाचक हो कोई भी नय है **[वाच्यः शुद्धनयोपि सः]** वह शुद्धनय ही वक्तव्य है (शुद्ध द्रव्य तथा उसका वाचक शुद्ध नय ही कहना चाहिए, अशुद्ध-द्रव्यरूप जीवादिक नव-पदार्थ व उनका वाचक व्यवहार-नय नहीं कहना चाहिए ।

नैवं त्वमन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥150॥
नासिद्धानन्यथा सिद्धिस्तद-द्वयोरेकवस्तुतः ।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥151॥
तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥152॥
ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किंचिद्-द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥153॥
किन्तु सम्बन्द्धयोरेव तद्-द्वयोस्तिरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥154॥
अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चेको विराजते ।

तदात्त्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥155॥
नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरूपलब्धित: ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥156॥

अन्वयार्थ : [एवं तु न] ऐसा (उक्त) नहीं है **[सत: शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयो:]** सत् की शुद्धता और अशुद्धता इन दोनों में **[अनन्यथा सिद्धे:]** अनन्यथा सिद्धि है (सत् की शुद्धता अशुद्धता के बिना तथा अशुद्धता शुद्धता के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकती है) इसलिए **[मिथ:]** दोनों में परस्पर की **[सापेक्षत:]** अपेक्षा पाए जाने से **[विरोधे अपि]** विरोध के रहते हुए भी **[अविरोध: स्यात्]** कथंचित अविरोध है ।

[तद्-द्वयो: एक वस्तुत] उन दोनों अवस्थाओं में एक द्रव्य होने से (एक ही द्रव्य की पूर्वापर शुद्ध अशुद्ध दशा होने से) **[अनन्यथा सिद्धि:]** अनन्यथा सिद्धि **[असिद्धा न]** असिद्ध नहीं है **[यत्]** क्योंकि **[विशेषे अपि]** विशेष (पर्याय / अवस्था) में भी **[सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते]** एकमात्र सामान्य ही प्रतीत होता है ।

[तद्यथा] पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि **[नव तत्त्वानि]** ये नव तत्त्व **[केवलं जीवपुद्गलौ]** केवल जीव और पुद्गल रूप हैं क्योंकि **[वस्तुत:]** वास्तव में **[स्वद्रव्याद्यै]** अपने द्रव्य-क्षेत्रादि के द्वारा **[अनन्यत्वात् कर्तृकर्मणो:]** कर्ता और कर्म अभिन्न हैं ।

[ताभ्यामन्यत्र] उन (जीव और पुद्गलों) के सिवाय **[नैतेषां किंचिद्-द्रव्यान्तरं पृथक्]** इन (नव तत्त्वों में) पृथकरूप से कुछ दूसरे द्रव्य नहीं हैं तथा **[न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च]** पृथक-पृथक विशुद्ध जीव और विशुद्ध पुद्गल के भी ये नव पदार्थ नहीं होते हैं ।

[किन्तु इतरेतर] किन्तु परस्पर **[सम्बन्द्धयो एव तद्-द्वयो]** सम्बन्ध के प्राप्त उन दोनों (जीव और पुद्गलों) के ही **[नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां]** नैमित्तिक-निमित्त सम्बन्ध से होने वाले **[भावा नव पदा अमी]** भाव ये नव पदार्थ हैं ।

[अर्थात्] अर्थात् **[जीवश्चेको]** एक जीव ही **[नवपदीभूय]** (जीवाजीवादिक) नव पदार्थरूप होकर के **[विराजते]** विराजमान है **[च]** और **[तदात्त्वेपि]** और उन (नव पदार्थों) की अवस्था में भी

[तद्विशिष्टदशाम् ऋते] यदि विशेष दशा की विवक्षा न की जावे तो **[परं शुद्धः]** केवल शुद्ध जीव ही अनुभव में आता है ।

[तद्विधेरूपलब्धितः] उन (नव पदार्थों) में जीव को अन्वय रूप से पाए जाने के कारण **[एतत्]** यस उक्त कथन **[नासंभवं भवेत्]** असंभव नहीं है क्योंकि **[सोपरक्तेरभूतार्थात्]** सोपराक्ति के वास्तविक नहीं होने के कारण **[सिद्धं न्यायाददर्शनम्]** न्यायानुसार उस (उपराक्ति) की उपेक्षा हो जाती है ।

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥157॥
एकं हेम यथानेकवर्ण स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥158॥
नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपिवा ॥159॥
नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरूपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥160॥
न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।

शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥161॥
यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥162॥
ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥163॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥164॥

अन्वयार्थ : **[हेमपद्मजलाऽनलाः]** सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि **[आदर्शस्फटिकाश्मानौ]** दर्पण, स्फटिक पत्थर **[बोधवारिधिसैन्धवाः]** ज्ञान, समुद्र और नमक इसप्रकार **[सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता]** अनेक दृष्टांत हैं (जिनके द्वारा नव-पदार्थों में शुद्ध जीव का अनुभव सिद्ध किया जा सकता है) ।

[एकं हेम यथा] जैसे शुद्ध स्वर्ण **[स्यात्परयोगतः]** अन्य धातुओं के संयोग होने पर **[अनेकवर्ण]** नाना वर्ण धारण करता है **[तमसन्तमिव]** उस परयोग को नहीं के सामान मनाकर **[उपेक्ष्य पश्य]** उपेक्षा करके देखा जाय तो **[तद्धेम केवेलम्]** वह केवल शुद्ध स्वर्ण ही है ।

[तस्य सतः] उस सत्त्वरूप पर-संयुक्त द्रव्य की **[जवात्]** सहसा **[उपेक्षा कथं स्यात्]** उपेक्षा कैसे हो जएगी **['इति' नचाशंक्यं]** ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि **[तत्सत्त्वं वाकुत प्रमाणात्]** उस पर-द्रव्य का सत्व किस प्रमाण से **[सिद्धं]** सिद्ध होता है ? **[कूटः अपि वा न]** किसी भी प्रमाण से नहीं ।

[सोपरक्तेरूपाधिवत्] सोपराक्ति से उपाधि-सहित **[तद्धेम]** वह स्वर्ण **[नानादेयं हि]** त्याज्य नहीं है क्योंकि **[तत्त्यागे]** उसके त्याग से **[सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः]** सर्व शून्यता आदि दोषों का

प्रसंग आता है ।

[एतत्] यह कथन भी **[परीक्षाक्षमं न च]** परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकता है कि **[यदा शुद्धं]** जिससमय स्वर्ण शुद्ध है **[तदा शुद्धं]** उस समय वह शुद्ध ही है क्योंकि **[शुद्धस्यानुपलब्धौ]** शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति नहीं होने पर **[लब्धिहेतोः अदर्शनम् स्यात्]** उसकी प्राप्ति के हेतु का भी अदर्शन सिद्ध होता है ।

[यदा तद्वर्णमालायां] जिस समय अशुद्ध स्वर्ण के रूपों में **[दृश्यते हेम केवलम्]** केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है **['तदा']** उससमय **[न दृश्यते परोपाधिः]** परद्रव्य की उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती है किन्तु **[स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत्]** प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना अभीष्ट वह केवल शुद्ध स्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है ।

[ततः सिद्धं] इसलिए सिद्ध हुआ कि **[यथा तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि]** जैसे उस अशुद्ध स्वर्ण की वर्णमाला में अन्य धातु का संयोग होने पर भी **[वस्तुतः]** वास्तव में **[परयोगाद्विना पृथक् हेम]** परसंयोग बिना पृथक् रूप से शुद्ध स्वर्ण का अस्तित्व **[सिद्धं]** सिद्ध होता है (वैसे ही जीवादिक नव पदार्थों में शुद्ध जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है) ।

[अविरोधेन] बिना किसी विरोध के **[साध्यार्थस्या]** साध्यार्थ के साथ **[साधनालंकरिष्णुषु]** साधन को बताने के लिए भूषण स्वरूप **[सर्वदृष्टान्तभूमिषु]** सभी दृष्टान्तों में भी **[इह ही प्रक्रिया]** यही प्रक्रिया लगाना चाहिए ।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥165॥
सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।

दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥166॥
अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारातृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥167॥
प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥168॥
जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥169॥
ज्ञानं स्वयं धटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥170॥
वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥171॥
सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यश्चानेकरसं यतः ॥172॥
इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।

यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥173॥

अन्वयार्थ : **[यथा]** जैसे **[तोयमग्नं]** जल में डूबा हुआ **[पद्मपत्रम्]** कमल का पत्ता **[अत्र तथा न]** जल में जलरूप से नहीं रहता **[तदस्पृश्यस्वभावत्वात्]** वह जल से अस्पृश्य स्वभाव वाला है इसलिए **[अर्थत]** वास्तव में **[नास्ति पत्रतः]** पत्र में जल नहीं है ।

[सकदर्मं यथा वारि] जैसे कीचड सहोत जल को **[वारि पश्य न कर्दमम्]** जलरूप से देखो तो कीचड लक्ष्यगत नहीं होता किन्तु **[तदवस्थायां]** उस (कीचड सहित) अवस्था में भी **[विपङ्कवत्]** कीचड-रहित शुद्ध जल के सामान **[शुद्धं वारि दृश्यते]** निर्मल जल ही दृष्टिगोचर होता है ।

[यथा] जैसे **[तृणं दहन् अग्नि]** तृण को जलानेवाली अग्नि **[तृणाग्निः स्यादुपचारात्]** उपचार से तृण की अग्नि कही जाती है तथापि वास्तव में **[नाग्निस्तृणं]** अग्नि तृण नहीं होती **[तृणं नाग्निः]** तृण अग्नि नहीं होता **[अग्निः अग्निः तृणं तृणम्]** अग्नि अग्नि होती है तृण तृण होता है ।

[यथादर्शे] जैसे दर्पण में **[सन्निकर्षात्कलापिनः]** मयूर के सन्निकर्ष से **[प्रतिबिम्बं]** प्रतिबिंब पड़ता है **[तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र]** उससमय उस दर्पण में उस (प्रतिबिंबरूप) अवस्था के पाए जाने पर भी **[कुतः शिखी]** मयूर कहाँ है?

[अर्थात्] यथार्त में **[जपापुष्पोपयोगेन]** जपा-पुष्प (एक प्रकार का लाल फूल) के संयोग से **[विकारः स्फटिकाश्मनि]** स्फटिक-मणि में विकार (लालिमा) दिखाई देता है **[स च विकार: अपि]** वह विकार भी **[वस्तुत:]** वास्तव में **[अवास्तव:]** अवास्तविक है ।

[यथा] जैसे **[घटम् परिच्छिन्दत् ज्ञानं]** घट को विषय करने वाला ज्ञान **[स्वयं धटज्ञानं]** स्वयं घटज्ञान कहलाता है **[अर्थात्]** वास्तव में **[आय घट:]** यह घट **[ज्ञानं न]** ज्ञानरूप नहीं हो जाता किन्तु **[ज्ञानं ज्ञानं घट घट: स्यात्]** ज्ञान ज्ञानरूप और घट घटरूप ही रहता है ।

[यथा] जैसे **[वायुना प्रेरितो वारिधिः]** वायु से प्रेरित समुद्र यद्यपि **[सोत्तरङ्गोऽपि]** तरंगित हो रहा है तथापि **[तदात्वेपि]** उस अवस्था में भी **[पारावारसमीरयोः]** समुद्र और वायु में **[नार्थादैक्यं]** वास्तव में एकता नहीं है ।

[यतः] जैसे **[सर्वतः अर्थात्]** सब अवस्थाओं में वास्तविक **[एकरसं स्वयम्]** स्वयं एकरसवाली

(खारे रसवाली

[सैन्धवं खिल्यम्] नमक की डली **[उच्चैः चित्रोपदंशकेषु]** उत्तम नाना प्रकार के व्यंजनों से मिलकर **[अनेकरसं न]** अनेक रस वाली नहीं हो जाती है ।

[इति] इसप्रकार **[दृष्टान्तसनाथेन दृष्टेन]** दृष्टांत पूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण से **[यत् स्वेष्टं]** जो अपना इष्ट था **[तत् सिद्धिमत्]** वह सिद्ध होता है **[अर्थात्]** वास्तव में **[अमूनि नव पदानि]** ये नव पद **[वाच्यान्यर्थादवश्यतः]** अवश्य कहना चाहिए (सम्यग्दर्शन के विषयभूत मानना चाहिए) ।

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न ।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥174॥
तदसत् सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥174॥
नावश्यं वाच्यता सिद्धयेत् सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभयो मनाक् ॥176॥
नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिंचित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥177॥
न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥178॥

अन्वयार्थ : [कैश्चित् तु] किन्हीं लोगों के द्वारा **[मोहात्]** मोह से **[कल्प्यते]** कल्पित किया गया **[हेयानि पदानि वक्तव्यानि न]** व्यक्त पद हेय है इसलिए उन्हे नहीं कहना चाहिए **[इति]** ऐसा **[यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः]** क्योंकि उन सब पदार्थों से अतिरिक्त शुद्ध द्रव्य है ।

[तदसत्] उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि **[सर्वतस्त्यागः]** उनका सर्वथा त्याग (अभाव) **[स्यादसिद्धः प्रमाणतः]** प्रमाण से असिद्ध है **[तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य]** तथा उन (नव पदार्थों) के बिना **[शुद्धस्यानुपलब्धितः]** शुद्ध (द्रव्य) की उपलब्धि नहीं है ।

[सर्वतो हेयवस्तुनि] सर्वथा हेय (अभावात्मक) वस्तु में **[नावश्यं वाच्यता सिद्धयेत्]** वाच्यता अवश्य सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि **[नान्धकारेऽप्रविष्टस्य]** अन्धकार में प्रवेश न करने वाले को **[प्रकाशानुभयो मनाक्]** कुछ भी प्रकाश का अनुभव नहीं होता है ।

[यतः] क्योंकि **[अर्थतः]** प्रयोजनवश **[सार्थानि नव अवश्यं वक्तव्यानि]** प्रयोजनभूत नव पदार्थ अवश्य व्यक्त हैं **[इति]** इसलिए **[अकिंचित्करत्वतः]** अकिंचितकर हेतु से **[पदार्थानां अवाच्यता न स्यात्]** पदार्थ में अवाच्यता सिद्ध नहीं होती ।

[तेभ्यः अतिरिक्तस्य शुद्धस्य सर्वतः] उन (नव पदार्थों) से अतिरिक्त सर्वथा शुद्ध द्रव्य की **[न स्यात्तेभ्योसिद्धिः]** सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि **[साधनाभावतः]** साधन का अभाव होने पर **[तस्य]** उस (शुद्ध द्रव्य) की **[तद्यथानुपलब्धितः]** उपलब्धि नहीं हो सकती जैसा कि आगे (शंका समाधान) से प्रकट होता है ।

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥179॥
न पश्यति जगाद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।

अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥180॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[चार्थान्तरं तेभ्य:]** उन (नव पदार्थों) से सवथा भिन्न **[शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम्]** शुद्ध सम्यग्दर्शन का विषयभूत **[नित्योद्योतं निरामयम्]** नित्य प्रकाशमान आधिव्याधि रहित **[अस्ति जीवस्य स्वं रूपं]** जीव का शुद्ध स्वरूप है किन्तु **[जगत्]** लोग **[यावत्]** जब तक **[मिथ्यान्धतमसा ततम्]** मिथ्यात्व रुपी गाढ अन्धकार से व्याप्त रहते हैं **[तावत्]** तब तक (वे उसी जीव के शुद्ध स्वरूप को) **[न पश्यति]** नहीं देखते हैं और जिस समय **[जगत्]** लोग **[अस्तमिथ्यान्धकारं चेत्]** मिथ्यात्व रुपी अन्धकार से रहित होते हैं उस समय **[पश्यतीदं जवात्]** तत्काल वे उसे (जीव के शुद्ध स्वरूप) को देखने (अनुभवने) लगते हैं ।

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्येकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेऽर्थतः ॥181॥
अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥182॥

अन्वयार्थ : **[एवं न]** ऐसा नहीं है क्योंकि **[शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः]** उन शुद्ध और असुद्ध दोनों द्रव्यों को **[विरुद्धधर्मत्वात्]** परस्पर विरुद्ध धर्म होने से **[अर्थतः]** वास्तव में **[एकस्येकपदे]** एक द्रव्य के एक पदरूप पर्याय में **[न द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रिये]** शुद्ध और अशुद्ध दोनों क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं ।

[अथ] अब उक्त कथन का खुलासा करते है कि **[अर्थतः]** वास्तव में **[चितः]** आत्मा की **[शुद्धायां क्रियायां सत्यां]** शुद्ध क्रिया होने पर **[अशद्धा कथं वा स्यात्]** अशुद्ध क्रिया कैसे होगी **[अस्ति**

चेत्] यदि होगी तो **[हि]** निश्चय से **[सा नित्या कथं न स्यात्]** वह अशुद्ध क्रिया नित्य क्यों नहीं होगी ।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसम्भवः ॥183 ॥
ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदानन्यगतिस्तेन भावेनात्मास्ति तन्मयः ॥184॥
तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥185॥
ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किन्चिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धः नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥186॥
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोदेश्याः क्रमादपि ॥187॥

अन्वयार्थ : **[अथ]** तथा **[सत्यामशुद्धायां]** अशुद्ध क्रिया के रहने पर **[बन्धाभावो विरुद्धभाक्]** बांध का अभाव मानना बाधित हो जाएगा **[नित्यायामथ तस्यां सत्यां]** और उस अशुद्ध क्रिया के नित्य सिद्ध होने पर **[हि]** निश्चय से **[मुक्तेरसम्भवः]** मुक्ति असंभव होगी ।

[ततः सिद्धं] इसलिए सिद्ध होता है कि **[यदा येन भावेनात्मा समन्वितः]** जिससमय आत्मा जिस भाव से युक्त होता है **[तदा]** उस समय **[तेन भावेन]** उसी भाव से **[अनन्यगति]** अनन्य होकर **[भावेनात्मास्ति तन्मयः]** आत्मा उसी भावमय होता है ।

[तस्मात्] इसलिए **[तदात्वे तन्मयत्वतः]** उस समय उसी भाव रूप परिणत होने से **[अशुभ शुभेनैव]** अशुभ और शुभ भाव से ही **[स्यादशुभोऽशुभेन यः]** शुभ-अशुभ होता है **[शुद्धः शुद्धेन भावेन]** शुद्ध भाव से शुद्ध होता है ।

[ततः] इसलिए **[तेभ्यः]** उन (नव तत्त्वों) से **[किन्चिच्छुद्धमनीदृशम्]** सुद्ध तत्त्व कुछ विलक्षण **[अनर्थान्तरं]** अर्थान्तर नहीं है **[तद्विकारादृते परम्]** केवल उन (नव-तत्त्व) सम्बन्धी विकारों को छोड़कर (अपेक्षा न करने पर) **[शुद्धः नव पदान्येव]** नव तत्त्व भी शुद्ध हैं ।

[अतः] इसलिए **[तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे]** सूत्र में तत्त्वार्थ का श्रद्धान को **[सद्दर्शनं मतम्]** सम्यग्दर्शन माना है **[तत्तत्त्वं नव जीवाद्या]** वे तत्त्व भी जीवाजीवादि से नव हैं अतः **[यथोदेश्याः क्रमादपि]** क्रमानुसार उन (नव तत्त्वों) का कथन करना चाहिए ।

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥188॥
सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥189॥
तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।

कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥190॥
जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥191॥

अन्वयार्थ : [तदुद्देश्यो यथा] उनका निर्देश (नाममात्र कथन) इसप्रकार है कि **[जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः]** जीव, अजीव और आस्रव **[बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि]** बाध तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष ।

[सप्तैते] ये सात और **[पुण्यपापाभ्यां]** पुण्य और पाप **[पदार्थास्ते नव स्मृताः]** को नौ पदार्थ जानों; **[भूतार्थमाश्रिताः]** यथार्थता (सत्यार्थता / भूतार्थ-नय) से देखने पर **[सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया]** सम्यग्दर्शन के वास्तविक विषय हैं ।

[तत्र] उन (तत्त्वों) में से **[यथाधुना]** अब **[कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः]** पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक पर्यालोचन करने वाला कवि **[अधिजीवम् आख्यानं]** जीव का व्याख्यान **[विदधाति]** करता है ।

[पुरा] पहले **[सती सिद्धा]** भले प्रकार सिद्ध की गई **[जीवसिद्धिः]** जीव की सिद्धि **[साध्या साधीयसी]** अत्यंत विशदरूप से सिद्ध करना है **[साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये]** साक्षात जीव की उपलब्धि के लिए **[तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये]** उसका प्रसिद्ध लक्षण कहता हूँ ।

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा ।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥192॥
एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः ।

शुद्धा स्यादात्मनस्तत्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥193॥
एकध चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वा:ऽज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥194॥
अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात् फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥194॥
अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥196॥

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा ।
आत्मोपलब्धिरुपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥197॥
सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥198॥
अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत् ।

नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥199॥

अन्वयार्थ : **[अर्थात्]** उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि **[यदा]** जिस समय **[ज्ञानं गुण:]** (आत्मा का) ज्ञान गुण **[सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं]** सम्यक्त्वयुक्त प्राप्त किया है अवस्थान्तर जिसने ऐसा (अर्थात् मिथ्या तत्वोदय के अभाव से युक्त होकर) **[आत्मोपलब्धिरुपं स्यात्]** आत्म-स्वरूप की उपलब्धिरूप होता है **[तदा]** उस समय **[स्यादुच्यते ज्ञानचेतना]** उसे ज्ञानचेतना कहते हैं ।

[सा ज्ञानचेतना] वह ज्ञान-चेतना **[नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः]** निश्चय से सम्यग्दृष्टि जीव के ही होती है **[स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि]** मिथ्यादृष्टि जे किसी भी अवस्था में **[न तदात्वे तदसम्भवात्]** उस (आत्मोपलब्धि) का होना असंभव है ।

[मिथ्यादृशोऽपि] मिथ्यादृष्टि के भी **[यत्]** क्योंकि **[अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं]** ग्यारह अंगों तक का ज्ञान होने पर भी **[मिथ्याकर्मोदयात्परम्]** मिथ्यात्व कर्म के उदय होने के कारण **[नात्मोपलब्धिरस्यास्ति]** आत्मोपलब्धि नहीं होती ।

ननुपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः ।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोऽन्यत्र तत्क्षतिः ॥200॥

अन्वयार्थ : **[ननु]** शंकाकार का कहना है कि **[अर्थत:]** वास्तव में **[उपलब्धिशब्देन]** ज्ञान-चेतना के लक्षणभूत आत्मोपलब्धि में उपलब्धि शब्द से **[प्रत्यक्ष ज्ञान]** 'प्रत्यक्ष ज्ञान' यह अर्थ निकलता है इसलिए ज्ञानावरण कर्म को आत्मोपलब्धि का घातक मानना चाहिये । मिथ्यात्वोदय को नहीं मानना चाहिये किंतु ऊपर के पद्य में जब मिथ्यात्व के उदय को उस आत्मोपलब्धि का बाधक माना है **[तत् किं]** तो क्या **[ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोऽन्यत्र]**) ज्ञान-घातक ज्ञानावरणी कर्म के सिवाय कोई दूसरे कर्म द्वारा भी **[तत्क्षति:]** उस आत्मोपलब्धि का घात होता है ।

सत्यं स्वावरणस्याच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः ।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥201॥
अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥202॥
मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥203॥
किञ्चोपलब्धिशब्दोऽपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥204॥

अन्वयार्थ : **[सत्यं]** ठीक है **[स्वावरणस्याच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः उच्चैः]** जैसे अपने-अपने ज्ञान के घात में अपने-अपने आवरण का उदय वास्तव में मूल कारण है **[तथा]** वैसे ही ज्ञानावरण आदि **[कर्मान्तरोदयापेक्षो]** दूसरे कर्मों के उदय की अपेकषा सहित **[नासिद्धः कार्यकृत्]** कार्यकारी होता है यह भी असिद्ध नहीं है **[यथा]** जैसा कि आगे खुलासा कराते हैं ।

यथा--जिस प्रकार जो मत्यादि ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के उदय के अभाव से होते हैं उसी प्रकार वे वीर्यान्तराय कर्म के अनुदय से भी होते हैं ॥२०२॥

इसलिये यहाँ ऐसा मानना चाहिये कि जिस प्रकार मत्यादि ज्ञानों को आवरण करनेवाले कर्म के अनुदय से आत्मा की शुद्ध उपलब्धि होती है उसी प्रकार वह दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय के अभाव से भी होती है अर्थात् इन दोनों कर्मों का उदयाभाव शुद्ध उपलब्धि का कारण है एक का नहीं यह उक्त

कथन का भाव है ॥२०३॥

दूसरे उपलब्धि शब्द भी अनेक अर्थों का वाचक है इसलिये कहीं अशुद्धता का अभाव दिखलाने के लिये भी शुद्ध उपलब्धि शब्द कहा गया है ॥२०४॥

+ अशुद्धोपलब्धि का स्वामी -

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम् ।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥205॥
तद्यथा सुखदःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥206॥
यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेतत् सुखादिवत् ॥207॥
बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥208॥

अन्वयार्थ : अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टि जीवों के होती है और सम्यग्दृष्टि जीवों के गौण रूप से होती है । अथवा कभी होती ही नहीं है ॥२०५॥

खुलासा इस प्रकार है -- सुख दुःखादि रूप से आत्मा तन्मय हो रहा है और ऐसी अवस्था में जग

अपने को सब प्रकार से 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं' ऐसा मान रहा है ॥२०६॥

अथवा कभी-कभी ऐसा विचार करता है कि यह क्रोधी है, मैं इस शत्रु को अवश्य मारुंगा, और अपने मित्र को नहीं मारूंगा । इससे यह सिद्ध होता है कि यह जग सुख दुःखादिवाला हो रहा है ॥२०७॥

प्रकृत में ऐसा बुद्धिमान पुरुष ही संवेद्य है जो स्वयं सुख-दुःख का वेदन कर रहा है क्योंकि यह उपलब्धि स्मृति ज्ञान नहीं है किन्तु उससे भिन्न है ॥२०८॥

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात् स्व्यम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥209॥
नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥210॥
व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥211॥
उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥212॥
अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।

न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥213॥
इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणी वृत्तिर्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥214॥
न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥215॥

अन्वयार्थ : यह जग स्वयं सुख-दुःख के स्वाद का संवेदन करता है इसलिये इसके उनकी उपलब्धि होती है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि संस्कार के बिना ही इसके अन्यादेश देखा जाता है ॥ २०९॥

यदि ऐसा कहा जाय कि उपलब्धि का यह लक्षण प्रत्यभिज्ञान में या सर्वज्ञ के ज्ञान में भी घटित होता है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष आता है सो यह बात भी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान संवेदनरूप न होकर सिर्फ ज्ञानमात्र हैं, अतः इनमें उपलब्धि का लक्षण घटित नहीं होता ॥२१०॥

व्याप्य-व्यापक भाव जिस पदार्थ का उसी में होता है उससे भिन्न दूसरे में नहीं होता, क्योंकि यह व्याप्य-व्यापकपना सर्वत्र पदार्थों में स्वभावत: इसी प्रकार घटित होता है ॥२११॥

यह अशुद्ध उपलब्धि परिणाम क्रिया-स्वरूप होती है । यह वास्तत्र में कर्मों के उदय से होती है इसलिये निरन्तर बन्ध फलवाली मानी गई है ॥२१२॥

इसमें यद्यपि चेतन्य का अन्वय पाया जाता है तो भी मिथ्या-ज्ञानरूप होने के कारण अशुद्धोपलब्धि कहलाती है, इसलिये इसे ज्ञानचेतना नहीं कह सकते । किन्तु वह कर्म-चेतना और कर्मफल-चेतनारूप होती है ॥२१३॥

यह अशुद्धोपलब्धि सामान्यतया सब संसारी जीवों के समानरूप से पाई जाती है । यह सम्यक्त्व का कारण नहीं है ॥२१४॥

तात्पर्य यह है कि आत्मोपलब्धि मात्र सम्यग्दर्शन का चिन्ह नहीं है । किन्तु यदि वह शुद्ध हो तो हो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है

और यदि वह शुद्ध न हो तो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है ॥२१५॥

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन ।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥216॥

अन्वयार्थ : यह आत्मोपलब्धि क्या सर्वथा अशुद्ध होती है या कथंचित् अशुद्ध होती है ? और क्या यह नित्य बन्धफलवाली है या किसी अवस्था-विशेष में बन्ध फलवाली नहीं भी है ?

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥217॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है, उत्तर इस प्रकार है कि आत्मोपलब्धि सम्यक्त्व के सद्भाव में शुद्ध है और सम्यक्त्व के बिना वही अशुद्ध है, अतः सम्यक्त्व के सद्भाव में वह बन्ध फलवाली नहीं है किन्तु सम्यक्त्व के अभाव में वह बन्धफलवाली अवश्य है ॥२१७॥

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।

तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥218॥
यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै सा चेच्छुद्धा कुतो नव ॥219॥

अन्वयार्थ : माना कि सम्यग्दर्शन शुद्ध है ओर मिथ्यादर्शन अशुद्ध है पर इनका विषय एक होने से उसके शुद्ध और अशुद्ध ऐसे भेद कैसे हो सकते हैं ? अथवा सम्यग्दृष्टि के नौ पदार्थों में से केवल आत्मा की उपलब्धि होती है और यदि वह शुद्ध है तो सम्यग्दर्शन के विषय नौ पदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः प्रथक् ॥220॥
शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादुसद्विदाम् ॥221॥
स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दङ्मोहदोषतः ॥222॥
यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृश्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥223॥

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम् ।
व्यञ्जनं चारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥224॥
क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥225॥
इति सिद्धं कुदृष्टिनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥226॥
सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥227॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के सदा ही वस्तु में स्वभावतः स्वादभेद पाया जाता है । कारण कि उनके स्वादभेद के अभिव्यंजक जुदे-जुदे दो प्रकार के होते हैं । मिथ्यादृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का स्वाद आता है और सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का स्वाद आता है ॥२२०॥

सामान्यरूप से वस्तु शुद्ध होती है और अपने भेदों की अपेक्षा से वह अशुद्ध होती है । यही कारण है कि सम्यग्दृष्टियों को सामान्य रूप से ही वस्तु का स्वाद् आता है ॥२२१॥

किन्तु मिथ्यादृष्टियों को ऐसी सामान्य वस्तु का स्वाद नहीं आता जो विशेष अवस्था के होने पर एक सा बना रहता है, क्योंकि उनका सम्यग्दर्शन दर्शन-मोहनीय के उदय से दूषित रहता है इसलिए उनके ज्ञान-चेतना का ग्रहण नहीं होता है ॥२२२॥

अथवा मिथ्यादृष्टियों को विशेषरूप से वस्तु का स्वाद आता है । अर्थात् मिथ्यादृष्टियों की चेतना

निश्चय से कर्मफल में या कर्म में ही होती है ॥२२३॥

उदाहरणार्थ भोजन में नमक की डली मिला देने पर भोजन के लोलुपी अज्ञानी जनों को भोजन ही खारा लगता है ॥२२४॥

किन्तु ज्ञानी पुरुषों को भोजन में मिली हुई या भोजन में नहीं मिली हुई केवल एक नमक को डली ही खारी लगती है । वे खारापन एक नमक का ही स्वाद मानते हैं ॥२२५॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टियों के एक अज्ञान-चेतना ही होती है, क्योंकि उनके सब भाव केवल अज्ञानजन्य होते हैं । अज्ञान के बाहर उनके कोई भाव नहीं पाया जाता ॥२२६॥

इसलिये इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जबतक आत्मा की शुद्धोपलब्धि होती है तब तक ही सम्यकत्व रहता है और ज्ञान-चेतना भी तभी तक पाई जाती है ॥२२७॥

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह ।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥228॥
क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥229॥
आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निजरायै च कर्मणाम् ॥230॥
जस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।

अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिसु ॥231॥

अन्वयार्थ : इस संसार में केवल एक सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ज्ञानी है इसलिये जितने भी मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे सदा अज्ञानी माने गये हैं ॥२२८॥

ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया के फल में भेद

ज्ञानी ओर अज्ञानी की क्रिया यद्यपि एक समान होती है तथापि अज्ञानी की क्रिया बंध का कारण है किन्तु ज्ञानी की क्रिया कहीं भी बन्ध का कारण नहीं है ॥२२६॥

ज्ञानियों की कर्म-जन्य क्रिया बंध का कारण नहीं है यह तो सुनिश्चित है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं । परन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनकी क्रिया पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का भी कारण है ॥२३०॥

ऐसा होने का कारण यह है कि ज्ञानियों के जितने भी भाव होते हैं, वे ज्ञान-निमित्तक ही होते हैं इसलिये वे ज्ञानमय ही होते हैं । सम्यग्दृष्टियों के अज्ञानमय भावों के पाये जाने के लिए थोड़ा भी अवकाश नहीं है ॥२३१॥

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।
तद्-द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥232॥
ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥233॥
ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्त नियतं स्वमनन्यकम् ॥234॥

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकासं निःसंगं व्योमवत् सदा ॥235॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥236॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात् सार्थ कृतार्थवत् ॥237॥

अन्वयार्थ : परम उपेक्षारूप वैराग्य और स्वयं स्वानुभवरूप ज्ञान ये दो ही ज्ञानी के लक्षण हैं । जिसके ये लक्षण पाये जाते हैं वह ही जीवन्मुक्त है ॥२३२॥

यह एकमात्र ज्ञान का पात्र होने से ज्ञानी है और आत्मवित् है इसलिये अपने आत्मा को देखता है । तथा बद्ध और स्पृष्ट आदि भाव भी इसके स्वरूप नहीं होने से यह इनका भी स्थान नहीं है ॥२३३॥

इसलिये जैसा उसके अनुभव में आता है तदनुसार वह अपने को अविशिष्ट, संयोग-रहित, नियत और अन्य से भिन्न पाता है ॥२३४॥

ज्ञानी ज्ञान की ही एक मूर्ति है । वह अपनी आत्मा को इसप्रकार देखता है कि वह बन्ध से रहित है,अस्पृपष्ट है, शुद्ध है, सिद्धों के समान है, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है, आकाश के समान निःसंग है, अतिन्द्रिय अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य की मूर्ति है, तथा अतीन्द्रिय सुख और अनन्त स्वाभाविक गुणों से युक्त है । यद्यपि वह अपने को ऐसा अनुभव करता है तो भी वह

प्रसंगवश कृतकृत्य के समान परम उपेक्षा भाव से अन्य पदार्थ को भी चाहता है ॥२३५-२३७॥

ऐहिक यत्सुखं नाम सर्व वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥238॥
तस्माद्वेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥239॥
तत्सर्वं स्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुखं विपच्यतः ॥240॥
चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥241॥
स्वस्वरुपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥242॥

अन्वयार्थ : जो ऐहिक सुख है वह सब वैषयिक माना गया है । वह सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है । निश्चय से वह दुःख ही है ॥२३८॥

इसलिये यह सुखाभास होने से छोड़ने योग्य है, क्योंकि यह स्वयं दुःखरूप है और इसका फल भी दुःख है । तथा वह कर्म भी सब प्रकार से छोड़ने योग्य है जो इस अनिष्टकारी सुखाभास का कारण है ॥२२६॥ यह सब कर्म सर्वतः पौद्गलिक है और वह आठ प्रकार का है । विपरीतता के कारण उदय को प्राप्त हुए उसका फल सब प्रकार का दुःख ही है ॥२४०॥ यह चार गतिरूप संसार चक्र कर्मोदय के कारण होता है । इसमें कोई भी जीव अपने पद में स्थित नहीं है किन्तु कर्म-पद में स्थित है । आशय यह है कि जो इस

संसार चक्र में घूम रहा है वह अपने स्वरूप से च्युत है और कर्मोदय निमित्तक अवस्थाओं को अपनी मान रहा है ॥२४१॥

इस प्रकार नाना दुखों से व्याप्त इस संसार में घूमता हुआ यह जीव अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है । अर्थात् कभी भी इसने

अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं किया है ॥२४२॥

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किंच्चित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम् ॥243॥

अन्वयार्थ : कोई कर्म शुभ है और कोई कर्म अशुभ है, इसलिये कहीं पर सुख और कहीं पर दुःख होता है । तो फिर जीवों को कर्मों के कारण केवल दुःख ही क्यों बतलाया गया है ?

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम् ॥244॥
इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥245॥
उक्तं च--

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विषमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तहा ॥
भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥246॥
व्याकुलः सर्वे देशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोवलब्धितः ॥247॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है । सुख वह है जहां दुख नहीं है । धर्म वह है जहां अधर्म

नहीं है और शुभ वह है जहां अशुभ नहीं है ॥२४४॥

यह सुख पराधीन है, बाधाओं से घिरा हुआ है, सान्त है, बन्ध का कारण है और विषम है, इसलिये यह सुख वास्तव में दुःख ही है ॥२४५॥

कहा भी है --

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है, सान्त है, बन्ध का कारण है और विषम है । इसलिये वह दुःख ही है ।

पूर्वोक्त कथन का यह अभिप्राय है कि इस संसार में सब कर्मों का उदय प्रतिक्षण दुर्वार वज्राधात की तरह आत्मा को पीस रहा है ॥२४६॥

जिस प्रकार अग्नि के संसर्ग से जल गरम होता है क्योंकि ऐसे ही स्पर्श की उपलब्धि होती है उसी प्रकार यह जीव कर्मों के उदय से अपने सब प्रदेशों में नियम से व्याकुल हो रहा है ॥२४७॥

सातासातोदयाद्दःखमास्तां स्थूलोपलक्ष्यात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघाटश्चिदात्मनः ॥
आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः ।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥249॥
न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥250॥
तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः कचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥251॥
केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥252॥

अन्वयार्थ : साता और असाता के उदय से दुःख होता है यह कथन तो रहने दो, क्योंकि यह कथन स्थूल उपलक्षण मात्र है । वास्तव में सब कर्मों के उदय का आघात ही जीवात्मा के ऊपर वज्र की चोट के समान सबसे बड़ा आघात है ॥२४८॥

कर्मोदय के कारण जीव के सब प्रदेशों में घात हो रहा है क्योंकि इसके समर्थन में दृष्टान्त पाया जाता है । हम देखते हैं कि वातव्याधि के कारण शरीर की सब सन्धियां दुखती रहती हैं, इसलिये यह कथन तो रहने दो वास्तव में ऐसा कोई भी कर्मोदय नहीं है जो इस जीव को सुख प्राप्त करानेवाला हो । सब कर्मों का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है जिससे यह जीव सदा दुःखी ही रहता है ॥२४९-२५०॥

उस कर्म के मन्द उदय से कितने ही जीव संज्ञी होते हैं जो उसके वेग को न सहकर विषयों में रमण करने लगते हैं ॥२५१॥

तथा कितने ही जीव कर्म के तीव्र उदय के कारण निस्तेज इन्द्रिय वाले असंज्ञी होते हैं । ये केवल दुःख के वेग से पीड़ित रहते है इसलिये विषयों को भी नहीं भोग सकते हैं ॥२५२॥

यद्दुःखं लौकिकी रूढिनिर्णीतेस्तत्र का कथा ।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ॥253॥
कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया ।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥254॥
इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥244॥
दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥256॥
शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥257॥

उक्तं च --

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुःखं च जाण साहावं ।
जदि तं णत्थि साहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥
सर्व तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥258॥

अन्वयार्थ : जो लोक में दुःख के नाम से रूढ़ है वह तो दुःख है ही, अतः उसके निर्णय की चर्चा करना ही व्यर्थ है । सच तो यह है कि जो लोक में सुख के नाम से रूढ़ है वह भी वास्तव में दुःख ही है ॥ २५३॥

इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर तृष्णारूपी रोग की बहुलता देखी जाती है इससे मालूम पडता है कि वह दुःख कभी-कभी न होकर प्रवाहरूप से निरन्तर होता रहता है ॥२५४॥

जो प्राणी इन्द्रियों के विषयों में लोलुपी हैं उनको अत्यन्त दारुण अन्तर्दाह होता रहता है क्योंकि इसके बिना उनकी विषयों में रति कैसे हो सकती है ? ॥२५४॥

जैसे जलौकों (जोंक) के अशुद्ध खून के चूसने से तृष्णा की बीज़भूत उसमें रति देखी जाती है वैसे ही संसारी जीवों के 'ये विषय हमारे हितकारी हैं' ऐसा अनुभव करने से तृष्णा की बीजभूत उनमें रति देखी जाती है ॥२५५॥

जो शक्र और चक्रधर आदि केवल (अतिशय) पुण्यशाली हैं, उनके भी जब इन विषयों में तृष्णामूलक रति देखी जाती है तब फिर इनसे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥२५७॥

कहा भी है --

जिनकी विषयों में रति होती है उनके स्वाभाविक दुःख जानना चाहिये । यदि उनके वह दुःख स्वाभाविक नहीं होता तो उनकी विषयों के लिये प्रवृत्ति भी नहीं होती ॥

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि जिसे यह जग सुख कहता है वह दुःख ही है । और दुःख आत्मा का धर्म नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषों को विषयों में अभिलाषा नहीं होती है ॥२५८॥

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥259॥
सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥260॥
उपेक्षा सवेभागेषु सद्-दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥261॥
अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः ॥262॥
सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात् ॥263॥
तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।

परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥264॥
यथा कश्चित् परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम् ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलापवान् ॥265॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टियों के वैषयिक सुख में रागभाव नहीं होता है, क्योंकि राग अज्ञानभाव है । वह मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है ॥२५९॥ सम्यग्दृष्टि के तो सम्यग्दर्शन होता है जो आत्मा की अत्यन्त भिन्न अवस्था है, अतः उसकी सामान्य मनुष्यों की तरह क्रिया मात्र में अभिलाषा नहीं होती ॥२६०॥

जिस प्रकार प्राणी मात्र के अनुभूत रोग में उपेक्षा भाव होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के सब प्रकार के भोगों में उपेक्षा भाव होता है । उसके अवस्था का ऐसा परिणमन स्वभाव से होता है ॥२६१॥

ज्ञानी पुरुष हेय पदार्थ को जानकर तदनन्तर उसका त्याग करता है, भले ही ऐसी रूढ़ि होओ, परन्तु सच तो यह है कि अवस्था विशेष से संबंध रखनेवाला कोई ऐसा स्वभाव ही इसमें कारण है जिससे उसकी हेय पदार्थ में स्वभावतः प्रवृत्ति हो नहीं होती ॥२६२॥

जब कि हम लोगों के एकदेश राग का अभाव देखा जाता है तो इससे किसी जीव के अभिलाषा का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है ॥२६३॥

खुलासा इस प्रकार है कि जब किसी को ज्ञान हो जाता है कि 'यह मेरा नहीं है किन्तु अन्य का है और पर-वस्तु में तृप्त होकर भी कोई तृप्त नहीं होता है', वह उसकी अभिलाषा त्याग देता है ॥२६४॥

जिस प्रकार कोई पराधीन पुरुष अभिलाषा के बिना अनुचित क्रिया को करते हुए भी उस क्रिया का कर्ता नहीं होता है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥२६५॥

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।

तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलापवान् ॥266॥

अन्वयार्थ : जब सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है और उनमें जो इष्ट होता है, वह उसे रुचता भी है तब फिर वह अभिलाषा रहित कैसे हो सकता है ?

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥267॥
तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥268॥
दृग्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः ।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥269॥
नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जंगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥270॥
व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥271॥

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥272॥
नासिद्धोऽनिच्छतस्तस्य कर्म तस्यामयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्भोगादिहेतुकः ॥273॥
सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥274॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है, क्योंकि जब तक वह जघन्य पद में रहता है तब तक यह अवस्था होती है । और इस जधन्य पद का कारण चारित्रावरण कर्म है ॥२६७॥

ऐसा नियम है कि यह जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के विषयों में रत होता है । किन्तु चारित्र मोहनीय के बिना यह सर्वथा शुद्ध, वीतराग और अतीन्द्रिय हो जाता है ॥२६८॥

यद्यपि दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव भोगों की इच्छा नहीं करता तथापि हेतु का सद्भाव रहने से इसके भोग क्रिया अवश्य होती है ॥२६९॥

यदि कहा जाय कि इसके क्रिया देखी जाती है इसलिये वीतरागता असिद्ध है सो भी बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बिना चाहे जग को दारिद्र और मरण आदि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार सम्यन्दृष्टि के बिना इच्छा के विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है ॥२७०॥

जिस प्रकार रोग से पीड़ित हुआ कोई मनुष्य रोग का प्रतीकार करता है ओर उस अवस्था के प्राप्त होने पर रोगी भी नहीं रहना चाहता है । तो फिर दुबारा रोग के उत्पन्न होने की कथा ही कैसे की जा सकती है ॥२७१॥

उसी प्रकार कर्म से पीडित हुआ ज्ञानी पुरुष कर्म-जन्य क्रिया को करता हुआ भी किसी कर्मपद को नहीं चाहता तो फिर वह उसमें अमिलाषा साइत किस न्याय से हो सकता है ? ॥२७२॥

और कर्म को नहीं चाहनेवाले उसके वेदना का प्रतीकार असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब वह रोगी है तो वेदना का प्रतीकार अवश्य होगा। हाँ इतनी बात अवश्य है कि वह नूतन रोगादि का कारण नहीं होगा॥ २७३॥

सम्यस्दष्टि जीव भोगों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं होता, क्योंकि राग-रहित जीव का अनिच्छा से किया गया कर्म राग का कारण नहीं होता ॥२७४॥

अस्ति तस्यापि सद्-दृष्टेः कस्यचित् कर्मचेतना ।
अपि कमफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥275॥
चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात् सा ज्ञानचेतना ॥276॥
अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमेन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥277॥
नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद् दुःखमनर्थवत् ॥278॥
सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैः व्याकुलत्वोपलब्धितः

ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥279॥

अन्वयार्थ : यद्यपि किसी सम्यग्दृष्टि के कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतना होती है । पर वास्तव में वह ज्ञान-चेतना ही है ॥२७५॥

कर्म-चेतना और कर्म-फल-चेतना का फल बन्ध माना गया है । पर इस सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव हो जाने से बन्ध नहीं होता, इसलिये वह ज्ञान-चेतना ही है ॥२७६॥

जिस प्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है इसी प्रकार ज्ञान भी दो प्रकार का होता है । इसमें से प्रारम्भ के दो हेय हैं और अन्त के दो उपादेय हैं, (इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रिय जन्य ज्ञान हेय है ओर अतीन्द्रिय सुख ओर अतीन्द्रय ज्ञान उपादेय हैं) ॥२७७॥

जो ज्ञान पर के निमित्त से होता है, प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है, व्याकुल है और मोहयुक्त है वह वास्तव में दुःखरूप और अनर्थकारी ही है ॥२७८॥

व्याकुलता पाई जाने के कारण यह ज्ञान दुःखरूप है यह बात अच्छी तरह से सिद्ध होती है । तथा जाने हुए पदार्थों के सिवा बहुत से पदार्थ शेष रहते हैं जिनके जानने की उत्कट इच्छा आदि देखी जाती है, इसलिये यह ज्ञान व्याकुलतामय है यह, भी सिद्ध होता हे ॥२७९॥

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगी सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥280॥
प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छं चेहाद्युपक्रमात् ॥281॥

परोक्ष तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र सम्भवात् ॥282॥
विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥283॥
मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्बमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं याववददर्शनात् ॥284॥
अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिम् ॥285॥
दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥286॥
सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥287॥

अन्वयार्थ : ज्ञात से शेष पदार्थों को जानने की इच्छा रखनेवाले का मत उनको न जान सकने के कारण व्याकुल रहे इसमें विशेष आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य तो इसमें है कि जो इन्द्रिय ज्ञान योग्य सन्निकर्ष में अवस्थित पदार्थों में उपयुक्त है वह भी दुःख-जनक है ॥२८०॥

यह ज्ञान मोहयुक्त है इसलिये 'प्रमादी' है, अपनी उत्पत्ति में बहुत कारणों की अपेक्षा रखता है इसलिये 'निकृष्ट' है, क्रमवर्ती है इस लिये 'व्युच्छिन्न' है और ईहादि के क्रम से होता है इसलिये 'कृच्छ' है ॥२८१॥

पराधीन है इसलिये परोक्ष है, इंद्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये 'आक्ष्य' है ओर इसमें संशय आदि दोषों का पाया जाना सम्भव है इसलिये 'सदोष' है ॥२८२॥

बन्ध का कारण है इसलिये 'विरुद्ध' है, बन्ध का कार्य है इसलिये 'कर्मज' है, आत्मा का धर्म नहीं है इसलिये 'अश्रेय' है और कलुषित है इसलिये स्वभावतः अशुचि है ॥२८३॥

यतः मृगी-रोग के वेग के समान यह क्षण में बढ़ता है, क्षण में धटता है और क्षण में दिखाई नहीं देता है अतः 'मूर्छित' है ॥२८४॥ इस ज्ञान को आवरण करनेवाला कर्म यद्यपि थोड़े समय के लिये शान्त हो गया है परन्तु सत्ता में रहने के कारण अपने फल-काल को अवश्य प्राप्त होगा इसलिये यह 'अशरण' है ॥२८५॥

यह ज्ञान छः द्रव्यों में से मृत पदार्थ को ही किंचिन्मात्र विषय करता है । उसमें भी सूक्ष्म पदार्थों में इसकी प्रवृत्ति न होकर किन्हीं स्थूल पदार्थों में ही इसकी प्रवृत्ति होती है ॥२८६॥

स्थूल पदार्थों में भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थों में ही इसकी प्रवृत्ति होती है । जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, उनमें इसकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

ग्राह्य पदार्थों में भी जो वर्तमानकालीन हैं उनमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है, अतीत ओर भविष्यत् कालीन पदार्थों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती ॥२८७॥

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥288॥
समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।

कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥289॥
तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥290॥
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥291॥
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः ।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥292॥
अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते ।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥293॥
उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्म स्यान्मानसं तथा ॥294॥
दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित् कस्यचित् क्वचित् ।
अस्ति तस्यौदयस्तावन्न स्यात् संक्रमणादि चेत् ॥295॥

अन्वयार्थ : वर्तमान कालीन पदार्थों में भी जो सन्निकट हैं और योग्य सन्निकर्ष को प्राप्त हैं उनमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है । उसमें भी अवग्रह और ईहा आदि के होने पर ही इस ज्ञान का अस्तित्व देखा

जाता है ॥२८८॥

इस प्रकार इन समस्त कारणों के रहने पर उत्तरोत्तर शुद्धि के होने से ही कदाचित् यह ज्ञान उत्पन्न होता है । यदि ये कारण अलग अलग रहें तो यह ज्ञान नहीं उत्पन्न होता ॥२८९॥

उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है -- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद हैं और उनकी अनन्त शक्तियां हैं ॥२९०॥

तथा इनके भेद और शक्तियां जितनी हैं उतने ही इनके आवरण करनेवाले कर्म हैं, क्योंकि ये अपनी अपनी सन्तान को उल्लंघन नहीं करते ॥२९१॥

उनमें से कर्म के जिस भेद के जिस अंश का स्वतः अवस्थान्तर अर्थात क्षयोपशम होता है उतना क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है ॥२९२॥

और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम लब्धि कहलाता है; उस समय इसका भी वही भेद और वही शक्त्यंश उदित होता है ॥२९३॥

इसके सिवा इस ज्ञान के उपयुक्त होने में पांच इन्द्रिय नामकर्म और मानस नामकर्म भी हेतु हैं ॥२९४॥

ये कर्म दैववश किसी जीव के किसी अवस्था में किसी प्रकार बन्ध को प्राप्त होते हैं । उसमें भी यदि संक्रमण आदि नहीं हो गया हो तो जीव के इनका उदय होता है ॥२९५॥

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्थादवश्यं सहोदयात् ॥296॥
सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनोदेहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥297॥

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वर्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥298॥
अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारंपर्यावलोकनम् ॥299॥
एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसम्भवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥300॥
अस्ति तत्र विशेषोऽयं बिना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥301॥
देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात् ।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥302॥
ततः प्रकृतार्थमेवैतद्विज्ञात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥303॥
खण्डितं खण्डशस्तेषामेकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥304॥

अन्वयार्थ : इस कर्म का उदय होने पर इन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति में एक दूसरा हतु और है जो पर्याप्त नामकर्म है । उक्त कर्मों

के साथ इसका उदय होने से इन्द्रियज्ञान अवश्य होता है ॥२९६॥

इस पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर स्वयं-सिद्ध नोकर्म-वर्गणाएं उस पर्याप्त नामकर्म के निमित्त से मन, शरीर और इन्द्रियों के आकाररूप से परिणित हो जाती हैं ॥२९७॥

यदि दैववश उन मन, शरीर और इन्द्रियों की पूर्णता हो जाय तो जड़ इन्द्रियां लब्धि के अपने विषय के प्रति उपयुक्त होने में बाह्य कारण हो जाती हैं ॥२९८॥

इतने पर भी सूर्य और दीपक का प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार और परंपरावलोकन, ये भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं ॥२९९॥

इतने हेतुओं के रहने पर ही समीचीन ज्ञान होना सम्भव है । यदि इनमें से एक भी कारण कम हो जाय तो वह ज्ञान पदार्थों को नहीं जान सकता है ॥३००॥

इसमें भी इतनी विशेषता है कि बाह्य कारण के बिना ज्ञान पदार्थों को नहीं जानता तब केवल लब्धिज्ञान देखा जाता है ॥१०१॥

यहां यदि देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के स्पर्धकों का उदय रहने से क्षायोपशमिक अवस्था नहीं होती है तो लब्धि ज्ञान नहीं होता ॥३०२॥

इसलिये प्रकृत अर्थ यही है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्मात्र है, क्योंकि यह अपने विषयभूत सब पदार्थों के एकदेश को ही जानता है ॥३०३॥

उन सब विषयों में से एक-एक अर्थ के एक-एक खण्ड को यह ज्ञान ग्रहण करता है इसलिये यह खण्डित है । तथा पदार्थों के पृथक-पृथक रहने पर यह ज्ञान क्रम से नियत-पदार्थ को ही ग्रहण करता है, इसलिये प्रत्येक है ॥३०४॥

आस्तामित्यादिदोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।

ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥305॥
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद् यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दां नोदयोपाधिना विना ॥306॥
नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥307॥
बुद्धिपर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगौचरे ॥308॥
अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः ।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत् सर्वप्रदेशजम् ॥309॥
अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात् साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥310॥

अन्वयार्थ : यह इन्द्रिय-ज्ञान व्याकुलता आदि अनेक दोषों के प्राप्त होने का स्थान तो है ही, साथ ही वह आत्म-प्रदेशों की चंचलता रूप भी है ॥३०५॥

निष्क्रिय आत्मा की जब तक कोई औदयिक क्रिया होती है तभी तक वह आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द होता है, क्योंकि उदय रूप उपाधि के बिना प्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता ॥३०६॥

उदयरूप उपाधि दुःखरूप है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह कर्म का फल है और कर्म

का जो फल है वह दुःखरूप है यह बात परमागम से सिद्ध है ॥३०७॥

बुद्धिपूर्वक दुःखों के विषय में कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं, किन्तु अबुद्धिपूर्वक दुःख केवल ज्ञानगम्य है । उसके विषय में एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता ॥३०८॥

क्योंकि कर्मों से गाढ़ बंधे हुए इस आत्मा के सब प्रदेशों में होने वाला महादुःख सदा काल है । किन्तु मन के निमित्त से होनेवाला दुःख कदाचित् ही होता है ॥३०९॥

आत्मा का जो बुद्धिपूर्वक दुःख है वह अपने अनुमान का विषय होने से सिद्ध है । उसके साधन करने की कोई आवश्यकता नहीं । इसकी सिद्धि के लिये व्यर्थ का श्रम वर्जनीय है ॥३१०॥

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥311॥
अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः कचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥312॥
अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥313॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवान्न तत् ।
कारणम् तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥314॥

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥315॥
नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥316॥
व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥317॥
अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥318॥

अन्वयार्थ : किन्तु इसमें अन्तर्निहित जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है उसकी सिद्धि अवश्य करनी चाहिये । या तो कार्यानुमान के अनुसार उसकी सिद्धि में हतु कहना चाहिये या परमागम से उसका कथन करना चाहिये ॥३११॥

कहीं-कहीं कार्य को देखकर उससे कारण का अनुमान हो जाता है । जैसे नदी के पूर को देखने से यह अनुमान हो जाता है कि ऊपर कहीं पर मेघ बरसा है ॥३१२॥

स्वत-सिद्ध और अविनाशीक एक सुख नाम का गुण है जो घातिया कर्मों के द्वारा घातित हो रहा है, इसलिये असत् पदार्थ के समान वह प्रकट दिखाई नहीं देता ॥३१३॥

इस प्रकार इस सुख का अदर्शन ही अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि में अन्य हेतुओं के समान कार्य हेतु है । वह उसके विपक्षभूत दुःख का कारण है जिससे उसका अनुमान होता है ॥३१४॥

इससे हम यह अनुमान करते हैं कि सब संसारी जीवों के अबुद्धिपूर्वक दुःख है, क्योंकि उनके

नैसर्गिक सुख का अभाव देखा जाता है ॥३१४॥

यदि कहा जाय कि यह सुख का अदर्शन रूप हेतु असिद्ध है सो भी बात नहीं है, क्योंकि इसके पोषक प्रसिद्ध दृष्टान्त के पाये जाने से और दुःख के सद्भाव के साथ सुख के अदर्शन की व्याप्ति होने से यह हेतु सिद्ध है । अन्यथा अबुद्धिपूर्वक दुःख की उपपत्ति नहीं बन सकती है ॥३१६॥

यहां जो दुःख के सद्भाव के साथ सुख के अदर्शन को व्याप्ति बतलाई है सो वह इस प्रकार घटित होती है कि जिस प्रकार चेष्टा रहित किसी मूर्छित पुरुष को देखकर हम यह जान लेते हैं कि इसका कारण मदिरा आदि का पान है । मदिरा आदि का पान यद्यपि अदृश्य है तो भी मूर्च्छित अवस्थारूप काय को देखकर जैसे इसके मदिरा पानरूप कारण का ज्ञान हो जाता है ॥३१७॥

इसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि संसारी जीव के अबुद्धिपूर्वक दुःख है, क्योंकि उसके सुख नहीं दिखाई देता । यदि उसके अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं माना जाय तो उसके आत्मीक सुख का सर्वथा अदर्शन कैसे बन सकता है ॥३१८॥

ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥319॥
नावाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधने ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥320॥
तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्च्छितं कर्मभिर्बलात् ॥321॥

अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छाररं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥322॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं नाबुद्धिजम् ।
तद्-ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥323॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्त्वासिद्धौ व्याप्तेरसंभवात् ॥324॥
नैवं यत्ताद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यथा ॥325॥
विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोवैरं न तत् क्षारद्रवत्वयोः ॥326॥

अन्वयार्थ : इसलिये कर्मबद्ध संसारी जीव के निरन्तर कर्मों का उदय आदि होने के कारण अबुद्धिपूर्वक दुःख नियम से है, ऐसा अनुमान होता है ॥३१९॥

यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त दुःखजात के सिद्ध करने में अवाच्यता है सो भी बात नहीं है, क्योंकि अबुद्धिपूर्वक जितना भी दुःख होता है उसका मूल कारण कर्म का उदय है, इसलिये वह सिद्ध ही है ॥३२०॥

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्च्छितं कर्मभिर्बलात् ॥321॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छाररं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥322॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं नाबुद्धिजम् ।
तद्-ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥323॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्त्वासिद्धौ व्याप्तेरसंभवात् ॥324॥

अन्वयार्थ : जो सुख अपनी आत्मा का स्वरूप है कर्मों से बल-पूर्वक मूर्च्छित हो रहा है, इसलिये वह बद्ध जीव के नहीं पाया जाता ॥३२१॥

माना कि आत्मा का अनिष्ट अर्थ के संयोग से शारीरिक दुःख होता है पर उसकी जग में इन्द्रियजनित बुद्धिपूर्वक दुःख रूप से प्रसिद्धि है ॥३२२॥

यदि कोई कहे कि अबुद्धिपूर्वक होनेवाला दुःख मन, देह और इन्द्रिय आदिक से भिन्न है सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि आकाशफूल के समान इसका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं पाया जाता ॥३२३॥

अतः अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि में जो आत्मसुख का अभावरूप हेतु दिया जाता है वह हेत्वाभास है, क्योंकि व्याप्य के असिद्ध होने पर उसके साथ सुखाभाव की व्याप्ति ही घटित नहीं होती ?

नैवं यत्ताद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यथा ॥325॥
विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोवैरं न तत् क्षारद्रवत्वयोः ॥326॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है, क्योंकि सुख के विपक्षभूत दुःख के सिद्ध करने में अबुद्धिपूर्वक होनेवाले दुःख के साथ सुखाभाव की व्याप्ति है। यदि एसा नहीं है तो फिर कर्म सुख के विपक्षी हैं यह बात किस युक्ति से सिद्ध होगी ? (जब कि कर्ममात्र के सद्भाव में सुख का अभाव माना गया है तब इसी से सिद्ध हो जाता है कि सुखाभाव की अबुद्धिपूर्वक दुःख के साथ व्याप्ति अवश्य है) ॥३२५॥

ऐसा नियम है कि परस्पर विरुद्धभूत दो धर्मों में ही विपक्षपना पाया जाता है अविरोधी धर्मों में नहीं, क्योंकि हम देखते हैं कि परस्पर विरोधी शीत और उष्ण इन दो धर्मों में ही बैर होता है, क्षारत्व और द्रवत्व इन दो धर्मों में नहीं । यतः सुख-दुःख का विपक्षी है अतः दुःख की सुखाभाव के साथ व्याप्ति मानने में कोई बाधा नहीं यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥३२६॥

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी ।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥327॥
असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथात्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥328॥

नयात् सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥329॥
देशतोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥330॥
न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥331॥
अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता ।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोऽर्थतः ॥332॥
न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत् ।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥333॥
अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादिकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥334॥
अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात् सुखदुःखयोः ।
तदात्वे तन्न तद्-द्वैतं द्वैतं चेद् द्रव्यतः क्वचित् ॥335॥

बहुप्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जनागमाच्चापि स्वतःसिद्धो यथाक्रमः ॥336॥
एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः ।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥337॥
अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः ।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥338॥
तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥339॥
अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥340॥
महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥341॥

अन्वयार्थ : निराकुलता का नाम सुख है, जो जीव की अनुजीवी शक्ति है और इसके विरुद्ध जो आकुलता है वह सुख का घात करनेवाले कर्मों की शक्ति है ॥३२७॥

आकुलता सुख गुण के घातक कर्मों की शक्ति है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्म का फल

ऐसा ही देखा जाता है । यदि ऐसा नहीं है तो वह कर्म आत्म-शक्ति के बाधक केसे हो सकता है ॥३२८॥

इसलिए कर्मों से बंधे हुए आत्मा के जब तक कर्मों का रसोदय रहता है तबतक उसके सब प्रदेशों में कम्प पैदा करनेवाला दुःख होता है यह बात युक्ति से सिद्ध हो गई ॥३२९॥

इस विषयक एकदेश दृष्टान्त यह है कि वायु से ताडित हुआ समुद्र स्वाधिकार में प्रमत्त होने के कारण व्याकुल देखा जाता है । किन्तु वही समुद्र जब स्वस्थ हाता है तब अव्याकुल देखा जाता है ॥३३०॥

यदि कोई कहे कि चाहे आत्मा बद्ध हो, चाहे अबद्ध हो किन्तु सुख सदा विद्यमान रहता है, क्योंकि वह आत्मा की शक्ति है, इसलिये उसका अभाव कभी नहीं हो सकता, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष आते हैं जिनकी पोषक युक्ति पहले ही दिखला आये हैं । वास्तव में जीव स्वस्थ है उसके व्याकुलता कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती । इससे ज्ञात होता है कि संसारी जीव के सुख का अभाव ही है ॥३३१-३३२॥

यदि कहा जाय कि एक ही आत्मा के एक अपेक्षा से सुखगुण की अभिव्यक्ति और एक अपेक्षा से दुःख ये दोनों बन जाएंगे, क्योंकि अनेकान्त वादियों के मत में एक ही आधार से दोनों की सिद्धि मानने में काई बाधा नहीं आती, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु में यद्यपि अनेकान्त प्रमाण माना गया है पर वह गुण और पर्याय इन दोनों में गौण और मुख्य व्यवस्था की अपेक्षा से ही प्रमाण माना गया है ॥३३३-३३४॥

किन्तु सुख और दुःख इन दोनों की अभिव्यक्ति पर्याय रूप से होती है, इसलिये पर्यायरूप से इनका द्वैत नहीं बन सकता। यदि किसी आत्मा में इनका द्वैत माना भी जाता है तो वह शक्ति की अपेक्षा से ही माना जा सकता है ॥३३५॥

अब इस विषय में और अधिक कथन करने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि एक तो प्रमाण से इष्ट साध्य की सिद्ध ही की जा चुकी है । दूसरे जैनागम से भी इसकी सिद्धि हो जाती है। और आगम स्वतः सिद्ध है इसलिये उसके सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं ॥३३६॥

सर्वेज्ञ की जो आज्ञा है वही उनका आगम है और सर्वज्ञ का वचन यह है कि फल देने के सन्मुख हुआ उदयागत जितना भी कर्मफल है वह सब दुःख ही है ॥३३७॥

इस विषय में यह उदाहरण है कि एकेन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत जितने भी कार्मणकायवाले

या अन्य कायवाले जीव हैं वे सब ही दुखी माने गये हैं ॥३३८॥

घाति कर्मों के उदय के आघात से जो जीव के प्रदेशों का घात हो रहा है वास्तव में वही अबुद्धिजन्य दुःख शब्द का वाच्य है और जिसका अभिव्यंजक रागादि भाव माना गया है ॥३३९॥

यदि ऐसा नहीं माना जाय तो अनेक दोष प्राप्त होते हैं जिससे ऐसा माने बिना काम ही नहीं चलता। उदादरणार्थ--यदि कर्मों के फलमात्र को दुःख न माना जाय तो संज्ञियों के ही केवल दुःख प्राप्त होता है वह असंज्ञियों के नहीं प्राप्त होता ॥३४०॥

यदि कहा जाय कि संज्ञी जीवों को बहुत दुःख होता है और असंज्ञी जीवों को थोड़ा दुःख होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि नीच पद से उच्च पद सदा श्रेष्ठ माना गया ॥३४१॥

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥342॥
अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥343॥
अस्ति चेत् कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥344॥
अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्ता चिदात्मनः ॥345॥

अन्वयार्थ : यदि कहा जाय कि सूक्ष्म जावों के भी शरीर और स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ होती हैं अतः उनके फल-स्वरूप उन जीवों के भी दुःख सिद्ध हो जायगा सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जब वे जीव कार्मण अवस्था में अवस्थित रहते हैं, तब उनके दुःख नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि तब यह जीव शरीर और इन्द्रिय आदि की नोकर्म वर्गणाओं से रहित देखा जाता है ॥३४२-३४३॥

यदि कहा जाय कि वहाँ भी कर्मों का समुदायरूप कार्मण शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीर हेतुक दुःख वहाँ पर भी है तो इससे अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि सुतरां हो जाती है ॥३४४॥

तथा इस कथन से अनाकुल लक्षणवाला सुख भी सिद्ध हो जाता है जो कि कर्मों के समान नोकर्मों का त्याग होने पर जीव का प्राप्त होता है ॥३४५॥

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यद्दगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥373॥
उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥374॥
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥375॥
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापिदेशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः ॥376॥

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्-दृगमोहोदयान्मिथ्या स्वादुरूपमनादितः ॥377॥
दैवात् कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥378॥
प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥379॥
अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥380॥

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥381॥
तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥382॥

दङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥383॥
यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यान्मूर्च्छितः ॥384॥
दङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥385॥

+ श्रद्धान आदि गुण सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण हैं और वह अनाकार है इसका विचार -- -

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्यायाः ॥386॥
अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद् बाह्यलक्षणम् ॥387॥
यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।

वाङ्मनःकायचेष्टनामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥388॥
नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥389॥
नैवं यतोऽनिभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥390॥
आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥391॥
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥392॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि आत्मा के यद्यपि श्रद्धान आदि गुण होते हैं पर वे उसके बाह्य लक्षण हैं । सम्यक्त्व उनरूप नहीं है, क्योंकि वे ज्ञान की पर्याय है ॥३८६॥

तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है । वास्तव में वह आत्मानुभूति ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं । यदि उसे सम्यक्त्व माना भी जाय तो वह उसका बाह्य लक्षण है ॥३८७॥

आशय यह है कि जिस प्रकार स्वास्थ्य-लाभ जन्य हर्ष का ज्ञान करना कठिन है परन्तु वचन, मन और शरीर की चेष्टाओं के उत्साह आदि गुणरूप स्थूल लक्षणों से उसका ज्ञान कर लिया जाता है उसी प्रकार अतिसूक्षम और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का ज्ञान करना कठिन है तो भी श्रद्धान आदि बाह्य लक्षणों के द्वारा उसका ज्ञान कर लिया जाता है ॥३८८॥

शंका--वास्तव में आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के इसका कभी भी

पाया जाना असम्भव है ?

ऐसा नहीं है, क्योंकि सत्सामान्य और सद्विशेष का तथा अनाकार और साकार के चिन्हों का तुम्हें कुछ ज्ञान ही नहीं है । जो इस प्रकार है -- ज्ञान में अर्थ का विकल्प होना आकार कहलाता है और अर्थ स्व-पर के भेद से दो प्रकार का है । अथवा सोपयोग अवस्था का होना ही विकल्प है जो कि ज्ञान का लक्षण है ॥३८९-३९१॥

आकार का नहीं होना ही अनाकार है । उसी का नाम वास्तव में निर्विकल्पता है । यह निर्विकल्पता ज्ञान के सिवा शेष अनन्त गुणों का लक्षण है ॥३९२॥

नन्वस्ति वास्तवं सर्व सत् सामान्यं विशेषवत् ।
तत् किं किंञ्चिदनाकारं किंञ्चित्साकारमेव तत् ॥393॥
सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकरं यद्विशेषभाक् ॥394॥
ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्र काः ॥395॥
ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥396॥

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥397॥
स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थः स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥398॥

अन्वयार्थ : जब कि सत्सामन्य और सद्विशेष यह सब वास्तविक है, तब फिर कुछ अनाकार है और कुछ साकार है ऐसा क्यों ?

यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान वास्तव में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का होता है । उनमें से जो सामान्य ज्ञान है वह अनाकार होता है और जो विशेष ज्ञान है वह साकार होता है ॥३९३-३९४॥

तथा ज्ञान के सिवा सत् लक्षणवाले सामान्य या विशेषरूप और जितने भी गुण कहे गये हैं वे सब वास्तव में अनाकार ही होते हैं ॥३९५॥

इसलिये निर्विकल्प वस्तु का कथन करना शक्य नहीं होने से जहां भी उसका उल्लेख किया जाता है वह ज्ञान द्वारा ही किया जाता है ॥३९६॥

यद्यपि स्व और अपूर्व दोनों प्रकार के पदार्थों को ज्ञान युगपत् ग्रहण करता है तथापि ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं हो सकता है । किन्तु ज्ञान ज्ञान है और पर पर है ॥३९७॥

यतः चित् शक्ति ज्ञानमात्र मानी गई है अतः केवलज्ञान ही उसका स्वार्थ है और स्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले शेष सुखादि गुण उसके परार्थ हैं ॥३९८॥

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।

ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥399॥
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥400॥
प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत् परमं पदम् ॥401॥
तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥402॥
ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥403॥

अन्वयार्थ : आशय यह है कि सुख दु:खादि भाव यद्यपि जीव के निज गुण हैं और ज्ञान उनका वेदक है तथापि वास्तव में ज्ञान सुखादिरूप नहीं है ॥३९९॥

सम्यग्दर्शन वास्तव में सूक्ष्म है और वचनों का विषय नहीं है, इसलिये कोई भी जीव विधि-रूप से उसके कहने ओर सुनने का अधिकारी नहीं है ॥४००॥

एक ज्ञान ही ऐसा प्रसिद्ध गुण है जिससे आत्मा की सिद्धि होती है और जो स्वात्मानुभूति का कारण है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है ॥४०१॥

उसमें भी वह आत्मानुभूति आत्मा का ज्ञान विशष है और उसका सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है ॥४०२॥

चूंकि सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी व्याप्ति पाई जाती है इस लिये स्वात्मानुभूतिरूप से

सम्यग्दर्शन कहने योग्य हो जाता है । तब यह कहा जाता है कि स्वात्मानुभूति ही सम्यकत्व है । किन्तु तब उस स्वात्मानुभूति का शुद्ध नयरूप होना आवश्यक है ॥४०३॥

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥404॥
तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥405॥
यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः ॥406॥
हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यत : ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥107॥
यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥408॥
निन्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।

तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥409॥

अन्वयार्थ : इतनी विशेषता है कि सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी विषम व्याप्ति है, क्योंकि उपयोगरूप अवस्था के रहते हुए इनकी समव्याप्ति नहीं पाई जाती । यदि पाई भी जाती है तो वह लब्धिरूप अवस्था के रहते हुए ही पाई जाती है ॥४०४॥

खुलासा इस प्रकार है--जब स्वानुभव होता है या स्वानुभव का काल रहता है तब आत्मा में सम्यकत्व अवश्य पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं हो सकती ॥४०५॥

अथवा सम्यक्त्व के होने पर आत्मा उपयोगवाला होता भी है और नहीं भी होता । किन्तु इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व के होने पर शुद्ध-आत्मा का अनुभव लब्धिरूप अवश्य रहता है ॥४०६॥

इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वानुभूति ज्ञानावरण का क्षयोपशम स्वयमेव नियम से हो जाता है ॥४०७॥

क्योंकि छद्मस्थ का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है और केवली का ज्ञान नित्य होता है । साथ ही छद्मस्थ का भी लब्धिरूप ज्ञान नित्य होता है ॥४०५॥

तथा अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा किये बिना सामान्यरूप से सम्यक्त्व नित्य है, इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव इन दोनों की विषम-व्याप्ति सिद्ध होती है ॥४०६॥

+ श्रद्धा आदि गुण सम्यक्त के सहचारी कब हैं? -

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥410॥
तत्रोदेशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।

चरण च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥411॥
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥412॥
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥413॥
व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्-दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥414॥
स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छुद्धादयो गुणाः ॥415॥
तत्स्याच्छुद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥416॥
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥417॥
अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिद्धादयो यतः ।

मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥418॥

अन्वयार्थ : यतः सम्यक् श्रद्धान आदि के भेद से और भी बहुत से गुण हैं, इसलिये यहाँ अब उनका उद्देश, लक्षण और परीक्षा कहते हैं ॥४१०॥

उनमें से उद्देश इस प्रकार है । जेसे कि आम्नाय के अनुसार जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण को सम्यक्त्व कहना उद्देश है ॥४११॥

इनमें से जीवादि पदार्थों के सन्मुख बुद्धि का होना श्रद्धा है । बुद्धि का तन्मय हो जाना रुचि है । 'एसा ही है' इस प्रकार स्वीकार करना प्रतीति है और अनुकूल क्रिया करना चरण है ॥४१२॥

इनमें से आदि के तीन वास्तव में ज्ञान ही हैं, क्योंकि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये ज्ञान की ही पर्याय हैं । तथा चरण यह चारित्रगुण की पर्याय है, क्योंकि शुभ कार्यों में जो वचन, काय और मन का व्यापार होता है उसे चरण कहते हैं ॥४१३॥

ये श्रद्धा आदि चारों प्रथक् प्रथक् रूप से अथवा समस्त रूप से सम्यग्दृष्टि के लक्षण भी हैं और नहीं भी हैं, क्योंकि ये सपक्ष ओर विपक्ष दोनों ही अवस्थाओं में पाये जाते हैं और नहीं भी पाये जाते हैं ॥४१४॥

यदि स्वानुभूति के साथ होते हैं तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूति के बिना वे वास्तव में गुण नहीं हैं किन्तु गुणाभास हैं ॥४१५॥

इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा आदिक सभी गुण स्वानुभूति के साथ समीचीन हैं और सम्यक्त्व के बिना मिथ्या श्रद्धा आदिरूप होने के कारण वे तदाभास हैं ॥४१६॥

सम्यक् और मिथ्या विशेषण के बिना जब केवल श्रद्धा आदिक विवक्षित होते हैं तब उनकी सपक्ष के समान विपक्ष में वृत्ति देखी जाती है अतः वे व्यभिचारी हैं ॥४१७॥

यतः सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा आदि ही वास्तव में श्रद्धा आदिक हैं अतः मिथ्यादृष्टि के श्रद्धा आदिक को मिथ्या जानना चाहिये । वे वास्तव में श्रद्धा आदिक नहीं हैं ॥४१८॥

+ शंका -- सम्यक् और मिथ्या श्रद्धा का भेद कैसे ? -

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः ॥ 410 ॥

अन्वयार्थ : जब कि तत्त्व-रुचि का नाम श्रद्धा है क्योंकि उसका 'श्रद्धा' यही एकमात्र लक्षण है । तब फिर वह वास्तव में सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसी दो भेदवाली कैसे हो जाती है ?

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥420॥
विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥421॥
लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥422॥
ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥423॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में समव्याप्ति है,

इसलिये अनुपलब्ध पदार्थ में गधे के सींग के समान श्रद्धा हो ही नहीं सकती ॥४२०॥

स्वानुभूति के बिना केवल श्रुत के आधार से जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थानुगत है तो भी तत्त्वार्थ की उपलब्धि नहीं होने से वह वास्तव में श्रद्धा नहीं है ॥४२१॥

सत् और असत् की विशेषता न करके उन्मत्त पुरुष के समान पदार्थों की जो उपलब्धि होती है वह वास्तव में उपलब्धि नहीं है किन्तु उन पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की अनुपलब्धि के समान वह अनुपलब्धि ही है ॥४२२॥

इसलिये यौगिक रूढ़ि के आधार से श्रद्धा सम्यक्त्व का लक्षण है यह कहना वास्तव में तब अविरुद्ध हो सकता है जब उसे स्वानुभूति से युक्त मान लिया जाय ॥४२३॥

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥424॥
तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥425॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव के जो प्रशमादिक अन्य गुण प्रसिद्ध हैं बाह्यदृष्टि से वे भी यथायोग्य सम्यक्त्व के लक्षण हैं ॥४२४॥

उनमें से पहला प्रशम गुण है, दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है । अब क्रम से इनका लक्षण कहते हैं ।

+ प्रशम गुण -

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥426॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥427॥
हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥428॥
आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥429॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥430॥

अन्वयार्थ : पंचेन्द्रियों के विषयों में और असंख्यात लोक-प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है ॥४२६॥

अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव है ॥४२७॥

इस प्रशम भाव के होने में अनन्तानुबन्धियों का उदयाभाव और शेष कषायों का अंशरूप से मन्दोदय कारण है ॥४२८॥

यद्यपि प्रशम भाष से युक्त सम्यग्दष्टि जीव दैववश बिना इच्छा के आरम्भ आदि क्रिया करता है तथापि अन्तरंग में शुद्धता होने से वह क्रिया उसके प्रशम गुण के नाश का कारण नहीं हो सकती ॥४२९॥

सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला जो प्रशम भाव है वह परम गुण है और सम्यक्त्व के अभाव में जो प्रशम भाव होता है वह प्रशमभाव न हो कर प्रशमाभास है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४३०॥

+ संवेग गुण -

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥431॥
धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥432॥
इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥433॥
अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥434॥
अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।

प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥435॥
न चाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥436॥
अर्थात्सर्वोंऽभिलापः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥437॥
मिथ्या सर्वोऽभिलापः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥438॥
क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः॥439॥
यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलापेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥440॥
जरामृत्युदरिद्रादि न हि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥441॥
संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च निषेधनात् ।

स्याद्विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥442॥
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोऽथवा घर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥443॥
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधम एव सः ॥444॥
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात् क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥445॥

अन्वयार्थ : धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना या समान धर्मवालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग हैं ॥४३१॥

सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है ॥४३२॥

समान धर्मवालों में और पाँच परमेष्ठियों में जो अनुराग हो वह उनके गुणों में अनुराग बुद्धि से ही होना चाहिये । किन्तु जो समान धर्मवालों या पाँच परमेष्ठियों के गुणों से रहित हैं, उनमें इन समान होने की लिप्सा के बिना भी अनुराग नहीं होना चाहिये ॥४३३॥

प्रकृत में अनुराग शब्द का अर्थ अभिलाषा नहीं कहा गया है किन्तु अधर्म और अधर्म के फल से निवृत्ति हो कर जो शेष रहता है वही अनुराग शब्द का अर्थ है ॥४३४॥

अथवा जिस समय अनुराग शब्द का अर्थ विधिरूप से कहा जाता है उस समय उसका अर्थ प्राप्ति और उपलब्धि होता है, क्योंकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं ॥४३५॥

ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि अभिलाषा केवल भोगों में ही निषिद्ध मानी गई है । किन्तु

जैसे भोगों की अभिलाषा निषिद्ध है वेसे ही शुद्धोपलब्धि की अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गई है ॥४३६॥

वास्तव में जितनी भी अभिलाषा है वह सब सम्यग्दर्शन के अभाव में होती है इसलिये वह अज्ञानरूप ही है, क्योंकि जिसे तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं हुई है वही प्राप्त करना चाहता है । जिसने प्राप्त कर लिया है, वह नहीं ॥४३७॥

वास्तव में जितनी भी अभिलाषाएं हैं, वे सब केवल मिथ्या कर्म के उदय से होती हैं इसलिये मिथ्या ही हैं, क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष से देखते हैं कि कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट-क्रिया की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है ॥४३८॥

उदाहरणार्थ कहीं पर अभिलाषा के होने पर भी कारण सामग्री के नहीं मिलने से इष्ट-सिद्धि नहीं होती है और कहीं पर अभिलाषा के नहीं होने पर भी कारण सामग्री के मिल जाने से इष्ट-सिद्धि हो जाती है ॥४३९॥

यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती ॥४४०॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् जरा, मृत्यु और दरिद्रता आदि की चाह नहीं करता है तथापि यदि जीव के अशुभ का उदय है तो चाह के बिना भी जबरदस्ती उनका संयोग हो जाता है ॥४४१॥

संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है । विवक्षा-वश से ही ये दो हैं वास्तव में इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥४४२॥

सब प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग ही निर्वेद है, क्योंकि इसका यही लक्षण है । अथवा वह निर्वेद संवेगरूप धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है उसके संवेगधर्म नहीं हो सकता ॥४४३॥

यदि क्रियामात्र को धर्म कहा जाय सो भी बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के निरन्तर रागादि पाये जाते हैं इसलिये वह वास्तव में अधर्म ही है ॥ ४४४॥

मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर रागी होता है वह रागरहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदाकाल राग नहीं पाया जाता ॥४४५॥

+ अनुकंपा गुण -

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥446॥
दङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥447॥
मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥448॥
अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥449॥
समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥450॥
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥451॥

अन्वयार्थ : अनुकम्पा का अर्थ कृपा है । या सब जीवों का अनुग्रह करना अनुकम्पा है । या

मैत्रीभाव का नाम अनुकम्पा है । या मध्यस्थ भाव का रखना अनुकंपा है । या शत्रुता का त्याग कर देने से शल्य रहित हो जाना अनुकम्पा है ॥४४६॥

इसका कारण केवल दर्शन मोहनीय का अनुदय है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान के बिना किसी जीव में बैर-भाव नहीं होता है ॥४४७॥

पर के निमित्त से अपने लिये या अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के लिये थोड़े भी सुख, दुःखादि या मरण और जीवन की आशा करना मिथ्या ज्ञान है ॥४४८॥

और जिसके यह अज्ञान होता है वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्यवाला है । वह अज्ञानवश दूसरे को मारना चाहता है पर मार नहीं सकता ॥४४९॥

सब प्राणियों में जो समभाष धारण किया जाता है वह परानुकम्पा है ओर कांटे के समान शल्य का त्याग कर देना वास्तव में स्वानुकंपा है ॥४५०॥

रागादि अशुद्ध भावों के सद्भाव में बन्ध ही होता है और उनके अभाव में बन्ध नहीं होता, इसलिये अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिये जिससे रागादि भाव न हों ॥४५१॥

+ आस्तिक्य गुण -

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतःसिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ॥452॥
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥453॥
अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्ममिः कार्मणात्मकैः ।

कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्ष्यान्मोक्षभाग्भवेत् ॥454॥
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥455॥
अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥456॥
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पोद्गलिका अमी ॥457॥
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥458॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतं स्वानुभृत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक् तत् मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥459॥

अन्वयार्थ : स्वतःसिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदिरूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है ॥४५२॥

जो स्वतःसिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है वह आत्मा है । इसका दूसरा नाम जीव है । तथा इसके सिवा जितना भी अचेतन पदार्थ है वह सब अजीव हैं ॥४५३॥

आत्मा अनादि काल से कार्मण वर्गणारूप कर्मों से बँधा हुआ है । और अपने को उन्हीं का कर्ता

व भोक्ता मान रहा है । जब इनका क्षय कर देता है तब मुक्त हो जाता है ॥४५४॥

उस संसारी जीव के पुण्य, पाप, इनका कारण, इनका फल और आस्रव आदि सदैव बने रहते हैं ॥४५५॥

इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा बन्ध भी है, मोक्ष भी है और उनका फल भी है । किन्तु शुद्ध नय की अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं ॥४५६॥

उनमें एक जीव ही ऐसा है जो स्वसंवेद्य, चिदात्मक ओर 'सोऽहम' प्रत्ययवेद्य होने से उपादेय है । बाकी जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब हेय हैं, क्योंकि वे पौद्गलिक हैं ॥४५७॥

इस प्रकार अनादि काल से चला आया समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नय से जो जैसा माना गया है वह वैसा ही है, ऐसी बुद्धि का होना आस्तिक्य है ॥४५८॥

जो सम्यक्त्व का अविनाभावी है और जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है ॥४५९॥

+ शंका -- आस्तिक्य भाव स्व-संवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे? -

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥460॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥461॥

अन्वयार्थ : वास्तव में एक केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकी के चारों ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हैं ॥४६०॥

अथवा अपने आत्मा के सुखादिक की तरह इन्द्रियजन्य ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं इसलिये आस्तिक्य भाव स्व-संवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है ? ॥४६१॥

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दङ्मोहोपशमादितः ॥462॥
स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥463॥
अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥464॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा [तस्मिन्] मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥465॥
ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥466॥

(उक्तञ्च)

संवेओ णिव्वेओ णिन्दण गरुहा य उवसमो भत्ती ।

वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥
उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥467॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है तथापि आदि के दो ज्ञान पर पदार्थों का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष है तथापि दर्शन मोहनीय के उपशम आदि के कारण स्वानुभव के समय वे प्रत्यक्ष ही हैं ॥४६२॥

प्रकृत में अपने आत्मा की अनुभूति ही आस्तिक्य नाम का परम गुण माना गया है । फिर चाहे पर-द्रव्य का ज्ञान हो चाहे मत हो, क्योंकि पर-पदार्थ पर है ॥४६३॥

दूसरे यद्यपि जीवादि पर-पदार्थ परोक्ष हैं तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीव को जैसी उनकी गाढ़ प्रतीति होती है ॥४६४॥

वैसी उनकी स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होती, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय से उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है ॥४६५॥

इसलिये युक्ति, स्वानुभव और आगम से यह भी भाँति सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य नाम का महान गुण है ॥४६६॥

कहा भी है 'संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ॥' उक्त गाथा सूत्र में भी प्रशम आदि चारों ही कहे गये हैं अधिक नहीं क्योंकि इस गाथा सूत्र में लक्षण के उपलक्षण की विवक्षा है ॥४६७॥

+ उपलक्षण का लक्षण -

अस्त्युपलाक्षम् यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।

तत्तथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणम् चोत्तरस्य तत् ॥468॥
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणम् गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्तया वात्सल्येनाथवार्हताम ॥469॥

अन्वयार्थ : जो लक्षण का भी लक्षण है वह उपलक्षण कहलाता है । क्योंकि जो आगे के लक्ष्य का लक्षण है वही प्रथम लक्ष्य का उपलक्षण है ॥४६८॥

सम्यक्त्व भाव का संवेग गुण लक्षण है, इसलिये सम्यक्त्व भाव अरहन्तों की भक्ति और वात्सल्य से उपलक्षित हो जाता है ॥४६९॥

+ भक्ति और वात्सल्य संवेग के लक्षण -

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥470॥
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात् संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥471॥

अन्वयार्थ : कर्मों का उपशम हो जाने से वचन, शरीर और चित्त का उद्धत न होना ही भक्ति है और सम्यक्त्व के गुणों का उत्कर्ष, करने के लिये मन का तत्पर रहना ही वात्सल्य है ॥४७०॥

भक्ति और वात्सल्य ये संवेग के बिना नहीं होते, इसलिये संवेग सम्यग्दर्शन का लक्षण है और ये दोनों उसके उपलक्षण हैं ॥४७१॥

+ निंदा और गर्हा प्रशम-गुण के लक्षण कैसे? -

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥472॥
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नापेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥473॥
गर्हणम् तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥474॥
अर्थादेतद्-द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥475॥
शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥476॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय के उदयाभाव से प्रशम गुण होता है और उसके निन्दा और गर्हा ये बाह्यरूप से अभिव्यंजक हैं ॥४७२॥

वारण करने के लिये कठिन ऐसे रागादि दुष्ट-कर्म के सद्भाव में बन्ध अवश्य होता है जो न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षित भी है इस प्रकार पश्चाताप करना निन्दन है ॥४७३॥

और प्रमाद-रहित होकर शक्त्यनुसार कर्मों का नाश करने के लिये पांच गुरु और अपनी साक्षी पूर्वक रागादि भावों का त्याग करना गर्हा है ॥४७४॥

यतः प्रशम गुण के समान इन दोनों गुणों में कषायों के अनुद्रेक की अपक्षा कोई विशेषता नहीं है; अतः ये दोनों वास्तव में सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं यह जो पहले कहा है सो बहुत ही अच्छा कहा है ॥४७५॥

इस प्रकार पहले सम्यक्त्व के जिन गुणों का वर्णन कर आये हैं उनके सिवा शेष कथन आम्नाय के अनुसार परमागम से जान लेना चाहिये, क्योंकि आगमरूपी समुद्र के उस पार जाने के लिये हम सरीखे जन कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥४७६॥

+ प्रश्न -- क्या प्रकारांतर से भी सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं? -

ननु सद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥477॥

अन्वयार्थ : लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शन का क्या यही पूरा लक्षण है या दूसरा भी कोई लक्षण है ? यदि है तो इस समय हमारे लिये वह कहिये ।

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणरचाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥478॥

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥479॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥480॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दशन के आठ अंग हैं यह बात तीन-लोक में प्रसिद्ध है तथा लक्षण, गुण और अंग ये शब्द एकार्थ वाचक हैं ॥४७८॥

वे आठ अंग निम्न प्रकार हैं -- पहला निःशंकित अंग है । उसके बाद दूसरा नि:कांक्षित अंग है । तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है । चौथा अमूढ्दृष्टि अंग है । पांचवां उपबृहण अंग है । छठा स्थितिकरण अंग है । सातवां वात्सल्य अंग है और आठवां आम्नाय के अनुसार प्रभावना अंग है ॥४७९-४८०॥

शंङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥481॥
अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥482॥
तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।

अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥483॥
अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥484॥
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वे दृङ्मोहस्योदयात् सतः ॥485॥
न चाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥486॥
अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम ॥487॥
नासम्भवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥488॥
अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥489॥
यत्रानुभूयमानेऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।

मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥490॥
सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥491॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत् तत्वैकतत्त्वेऽपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी ॥492॥

अन्वयार्थ : शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थवाचक हैं । इस भय के निकल जाने से जो भाव पैदा होता है वह वास्तव में निःशंकित अंग है ॥४८१॥

प्रकरण वश इसका यह भी अभिप्राय है कि इस गुण के कारण मनीषी पुरुषों को जिनागम में शंका नहीं होती है, क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ उनके आस्तिक्य गुण के विषय रहते हैं (वे जिनागम के अनुसार इन पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं) इसलिये उन्हें इन पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाले जिनागम में किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती ॥४८२॥

इन तीन प्रकार के पदार्थों में धर्मादिक द्रव्य कालाणु और पुद्गल परमाणु ये सूक्ष्म पदार्थ हैं, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इनके साधक साधन का ज्ञान नहीं होता इसलिये ये सूक्ष्म माने गये है ॥४८३॥

द्वीप, समुद्र और भूतकाल में हुए तथा भविष्यत् काल में होने वाले राम, रावण और चक्रवर्ती दूरवर्ती पदार्थ हैं ॥४८४॥

मिथ्यादृष्टि जीव के इन पदार्थों का निःशंसय ज्ञान कभी भी नहीं होता, क्योंकि उसके संशय का मूल कारण दर्शनमोहनीय का उदय पाया जाता है ॥४८५॥

वे सूक्ष्म आदि पदार्थ परोक्ष हैं और उनके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है इसलिये वे सम्यग्दृष्टि के विषय कैसे हो सकते हैं यदि कोई ऐसी आशंका करे सो एसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में भी सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का बड़ा भारी माहात्म्य है जिससे उनके इस जग का

आस्तिकता को लिये हुए ज्ञान होता है ॥४८६-४८७॥

और यह बात असंभव भी नहीं है, क्योंकि स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता जैसे योगियों की योगशक्ति वचन अगोचर है वैसे यह सब अतिशय भी वचन अगोचर है ॥४८८॥

सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नाम का ज्ञान होता है जो सिद्धों के समान शुद्ध होता है ॥४८९॥

यद्यपि वृद्ध जनों से लेकर बालक तक सबको आत्मा का अनुभव होता है तथापि मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीवों को इसकी अनुभूति नहीं होती ॥४९०॥

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को जो वस्तु का स्वाद आता है उसमें भेद है किन्तु वस्तु में वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि वस्तु सीमा का उल्लंघन कभी नहीं होता ॥४९१॥

इसका यही तात्पर्य है कि दोनों के विषय-भूत पदार्थ के एक होने पर भी जो भ्रम होता है वह शंका का अपराध है और वह शंका मिथ्यात्व के उदय के साथ होनेवाली है ॥४९२॥

+ प्रश्न - शंका भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है यह किस युक्ति से जाना जाता है ? -

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥493॥

अन्वयार्थ : मनुष्यों को जो मिथ्या अनुभव होता है वह यदि शंकाकृत दोष है तो वह शंका भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है यह किस युक्ति से जाना जाता है ?

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।

नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥494॥
परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥495॥
ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥496॥
अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थ्यस्य स्वाधिकारत्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥497॥

अन्वयार्थ : इसका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टि है वह सात भय सहित है और जो सम्यग्दृष्टि है वह सात भयों से थोड़ा भी स्पृष्ट नहीं है ॥४९४॥

भय उन्हीं को होता है जो पर में आत्मत्व का अनुभव करते हैं । इसके बिना भय कैसे हो सकता है । वास्तव में जो पर्यायबुद्धि जीव हैं उन्हीं को भय होता है, जिनका चित्त केवल आत्मतत्त्व में लगा हुआ है, उन्हें भय नहीं होता ॥४९५॥

इसलिये भय के सद्भाव से मिथ्याभाव का अनुमान किया जाता है ओर वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य हेतु है यह जिनागम से जाना जाता है ॥४९६॥

यह् बात सिद्ध है कि जो पराधीन है वह भय सहित है और आत्मानुभव से च्युत है, क्योंकि स्वस्थ पुरुष स्वाधिकारी होता है इसलिये उसके भय का पाया जाना

असंभव है ॥४९७॥

+ शंका -- संज्ञाओं के अस्तित्व में और अनिष्ट अर्थ का संयोग से बचते हुए सम्यग्दृष्टि निर्भीक कैसे ? -

ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् ॥498॥
तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥499॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टियों में से किसी-किसी सम्यग्दृष्टि के चारों ही संज्ञाएँ होती हैं, क्योंकि जिन गुणस्थानों में इनकी व्युच्छित्ति होती है उससे पहले इनका अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव सब प्रकार से निर्भीक होता है यह कैसे सम्भव है । दूसरे अनिष्ट अर्थ का संयोग होने पर से बचने के लिये वह प्रयत्न भी करता है यह बात भी हम प्रत्यक्ष से देखते हैं, इसलिये भी वह भय-रहित है यह बात कैसे सम्भव है ?

सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥500॥
सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥501॥
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंकों न्यायदर्शनात् ।

देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसम्भवात् ॥502॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है तो भी वह अपने को उनका स्वामी आदि नहीं मानता, इसलिये भय सहित होकर भी वह निर्भय है । जैसे चक्षु रूपी पदार्थ को देखता हुआ भी नहीं देखता है वैसे यह भी भय सहित होकर भी निर्भय ही है ॥५००॥

संसारी जीवों के सत्ता में स्थित कर्म सदा ही उदय में आते रहते हैं जिससें यह जीव उनमें मोह, राग और द्वेष करता हुआ उनके फल को भोगने के लिये बाध्य होता है ॥५०१॥

इस कारण से ज्ञात होता है कि ज्ञानी जीव नि:शंक है क्योंकि इसके शंका का कारण एकदेश भी मूर्च्छा नहीं पाई जाती है ॥५०२॥

+ सात-भय -

स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥503॥
तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥504॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥505॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि के अपने आत्मा का अनुभव कैसा होता है अब इसका विचार करते हैं

जिससे कर्म को करता हुआ भी वह कर्म से (कर्मजन्य पर्याय में) उपयुक्त नहीं होता ॥५०३॥

पहला इहलोक-भय, दूसरा परलोक-भय, तीसरा वेदना-भय, चौथा अत्राण-भय, पांचवां अगुप्ति-भय, छठा मृत्यु-भय और सातवां आकस्मिक-भय इस प्रकार क्रम से ये सात भय कहे गये जानना चाहिये ॥५०४-५०५॥

+ इह-लोक भय -

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसङ्गमः ॥506॥
स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्मा भूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाद्दगात्मनः ॥507॥
अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥508॥
अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहाददद्वैतवादवत् ॥509॥
विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।

भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥510॥
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसम्भवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥511॥
सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्ध मत्येति चिन्मयम् ॥512॥
शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति सः ॥513॥
लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः ।
नापरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥514॥
स्वात्मसञ्चेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥515॥

अन्वयार्थ : इस जन्म में मेरे इष्ट-पदार्थ का वियोग न हो जाय और अनिष्ट-पदार्थ का संयोग न हो जाय ऐसा विलाप करना इहलोक भय है ॥५०६॥

न जाने यह धन स्थिर रहेगा या नहीं, दैव-योग से कहीं दरिद्रता प्राप्त न हो जाय इत्यादि रूप से मानसिक व्यथारूपी चिता मिथ्यादृष्टि को जलाने के लिये सदैव जलती रहती है ॥५०७॥

तात्पर्य यह है कि भय अज्ञानी जीव के ही होता है ज्ञानी जीव के कभी भी भय नहीं होता, क्योंकि

यह बात परिशेष न्याय से ज्ञात होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी जीव में बड़ा अन्तर है ॥५०८॥

यतः अज्ञानी जीव कर्म, नोकर्म और भावकर्ममय है अतः वह इस सबको मोहवश अद्वैतवाद के समान अपने से अभिन्न मानता है ॥५८६॥

वह आत्मघाती विश्व से भिन्न होकर भी अपने आत्मा को विश्वमय मान बैठा है और इस प्रकार वह विश्वमय होकर लोक में कभी भी भय से मुक्त नहीं हो पाता ॥५१०॥

तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरादि सर्वथा अनित्य हैं तो भी वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से इनमें नित्य-बुद्धि रख कर भ्रान्त हो रहा है जिससे वह भय को प्राप्त होता है ॥५११॥

किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपने आत्मा में एकत्व का अनुभव करता है । वह उसे सब कर्मों से भिन्न, शुद्ध और चिन्मय मानता है ॥५१२॥

वह शरीर, सुख, दुःख, पुत्र और पौत्र आदिक को अनित्य मानता है और कर्म-जन्य होने से इन्हें आत्मा का स्वरूप नहीं मानता ॥५१३॥

वह ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्य-लोक ही मेरा लोक है । वह वास्तव में नित्य है । इससे भिन्न अलौकिक लोक नहीं है इसलिये मुझे भय कैसे हो सकता है ॥५१४॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आत्मा का अनुभव होने के कारण ज्ञानानन्द में लीन रहता है । जिससे वह इस लोक सम्बन्धी भय से सदा मुक्त रहता है और इसके कारण-भूत कर्म-बन्धन से भी अपने को मुक्त अनुभव करता है ॥५१५॥

+ परलोक भय -

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥516॥

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥517॥
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्-दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥598॥
बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥519॥
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायाम्भोभारं जनः कुधीः ॥520॥
अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसम्भवात् ॥521॥
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद् द्रवत्यधीः ॥522॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥523॥

अन्वयार्थ : आगामी जन्मान्तर को प्राप्त होने वाले परभव सम्बन्धी आत्मा का नाम ही पर लोक है । इस के कारण जीव को कम्प के समान दुःख होता है इसलिये ऐसे भय को परलोक भय कहते हैं ॥ ५१६॥

यदि इस लोक में जन्म हो तो अच्छा है, दुर्गंति में मेरा जन्म मत होवे इत्यादि रूप से चित्त का आकुलित होना ही परलोक भय है ॥५१७॥

मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसा भय अवश्य पाया जाता है, क्योंकि इसका कारण एकमात्र मिथ्याभाव है । किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टि के यह भय नहीं पाया जाता है क्योंकि इसके मिथ्याभाव का अभाव हो गया है ॥५१८॥

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्मा को नहीं पहिचानता है, क्योंकि वह एकमात्र मिथ्या भूमि में स्थित है । वह मूर्ख अपनी आत्मा को कर्म और कर्मफल

रूप ही अनुभव करता है ॥५१०॥

इसलिये भ्रमिष्ठ पुरुष के समान वह निरन्तर ही भयाक्रान्त रहता है । ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृग-तृष्णा में ही जल समझ बैठता है ॥५२०॥ किन्तु जो अन्तरात्मा है वह निर्भयपद को प्राप्त होने के कारण सदा ही निर्भीक है, क्योंकि भय की कारणभूत भ्रान्ति इसके नियम से नहीं पाई जाती हे ॥५२१॥

जो अन्य पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है वह मिथ्या भ्रान्ति कहलाती है । जैसे कि अज्ञानी जीव अन्धकार के कारण रस्सी में सर्प का निश्चय हो जाने से डर कर भागता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी मिथ्यात्व के कारण कर्म और कर्मफल में आत्मा का निश्चय कर लेने से डरता रहता है ॥५२२॥

किन्तु जो स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूपी ज्योति को अपने से अभिन्न जानता है वह कैसे डर सकता है, क्योंकि उसे ज्ञात रहता है कि कोई भी कार्य अन्यथा नहीं हो सकता है ॥५२३॥

+ वेदना-भय -

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥524॥
उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥525॥
अस्ति नूनं कुदृष्टे सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥526॥
पुदलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनम् ॥527॥
यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥528॥
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्त्यथान्निभीको वेदनाभयात् ॥529॥

अन्वयार्थ : शरीर में बातादि मलों के कुपित होने से जो बाधा उत्पन्न होती है वह वेदना कहलाती है । इस वेदना के पहले ही शरीर में कम्प होने लगता है । अथवा मोहवश यह जीव विलाप करने लगता है । इसी का नाम वेदना भय है ॥५२४॥

मैं नीरोग हो जाऊं, मुझे वेदना कभी भी न हो इस प्रकार की मूर्च्छा का होना या इस प्रकार बार-बार चिन्तवन करना ही वेदना भय है ॥५२५॥

वह वेदना भय मिथ्यादर्शन के कारण निरोग आत्मा का ज्ञान न होने से मिथ्यादृष्टि जीव के नियम से होता है । किन्तु ज्ञानी जीव के वह कभी भी नहीं पाया जाता ॥५२६॥

ज्ञानी जीव विचार करता है कि आत्मा चैतन्यमात्र का स्थान है जो पुद्गल से भिन्न हैं इसलिये जब कि मुझे व्याधि ही नहीं तब भय कैसे हो सकता है । जितनी भी व्याधियां हैं वे सब शरीर में ही होती हैं, अमूर्त आत्मा में नहीं ॥५२७॥

जैसे प्रदीप्र हुई अग्नि झोपड़ी को जलाती है किन्तु झोपड़ी के आकार रूप से स्थित हुए आकाश को नहीं जलाती यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसे ही व्याधि शरीर में होती है आत्मा में नहीं यह भी अनुभव-सिद्ध है ॥५२८॥

उसका स्पर्शन आदि इन्द्रियों के वर्तमान कालीन और भविष्यत् कालीन विषयों में आदर नहीं है वही वास्तव में वेदना भय से निर्भीक है ॥५२९॥

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥600॥

+ गुरु-मूढ़ता -

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।

सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥601॥
अत्रोदेशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोऽतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥602॥

अन्वयार्थ : जिसका आचार कुत्सित है जो शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, क्योंकि सद्गुरु सम्यक्त्व और व्रत इन दोनों से युक्त होता है ॥६०१॥ इस विषय में भी अत्यन्त विस्तार से लिखना सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि जो विधि आदेय है वही यहाँ कही गई है और जो अनादेय है वह नही ही कही गई है ॥६०२॥

+ देव का स्वरूप -

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं कर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ती निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥603॥
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥604॥
एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्थाविशेषतः ।
संख्येया नामसंदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥604॥

एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः ।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः ॥606॥
दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥607॥

अन्वयार्थ : रागादि का पाया जाना, यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म हैं; जिनके इन दोनों का सर्वथा अभाव हो गया है वह देव कहा जाता है ॥६०३॥ उसके केवल-ज्ञान , क्षायिक-दर्शन , क्षायिक-सुख और क्षायिक-वीर्य यह सुविख्यात अनन्त चतुष्टय होता है ॥६०४॥ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वह देव एक है, अवस्था विशेष की अपेक्षा दो प्रकार का है, संज्ञावाचक शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है और गुणों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है ॥६०५॥ शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वह देव एक प्रकार का माना गया है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अरहन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकार का माना गया है ॥६०६॥ जो दिव्य औदारिक देह में स्थित है; चारों घातिया कर्मों से रहित है; ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से परिपूर्ण है और धर्म का उपदेश देने वाला है वह अरिहंत देव है ॥६०७॥

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाध्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥608॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥609॥

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूप्तवाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥610॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥611॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्धहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥612॥
प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥613॥
न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनन्तधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥614॥
नामतो सर्वतो मुख्यसंख्यातस्यैव सम्भवात् ।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥615॥

अन्वयार्थ : जो मूर्त शरीर से रहित है; सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थों को युगपत् जानने और देखनेवाला है, लोक के अग्रभाग में स्थित है, ज्ञानादि आठ गुण सहित है और ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों से रहित है वह सिद्धदेव है ॥६८८॥

यह देव जगत्पूज्य है इसलिये **अर्हत** कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर दिया है इसलिए **जिन** कहलाता है, सब देव इससे नीचे हैं, इसलिये **महादेव** कहलाता है, सुख देनेवाला है इसलिये **शंकर** कहलाता है , ज्ञान द्वारा कथंचित् सब पदार्थों में व्याप रहा है इसलिये **विष्णु** कहलाता है, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञाता है इसलिये **ब्रह्म** कहलाता है और दुःखों का हरण करने वाला है इसलिये **हरि** कहलाता है । इस प्रकार यद्यपि उसके अनेक नाम हैं तथापि वह अपने लक्षण की अपेक्षा अनेक नहीं है , क्योंकि वह साधनों से भले प्रकार सिद्ध अनन्त गुणात्मक एक ही द्रव्य हैं । यद्यपि चौबीस तीर्थंकरों से लेकर अन्त तक विचार करने पर व्यक्तिरूप से देव अनन्त हैं, तथापि यह देवों का बहुत्व दोषधायक नहीं है , क्योंकि इन सबमें एक प्रकार का ही देवत्व पाया जाता है ॥६८९-६१०॥ जिस प्रकार दीपक अनेक हैं तो भी उस से प्रदीप सामान्य की हानि नहीं होती, क्योंकि जितने भी दीपक हैं वे सब एक ही प्रकार के पाये जाते हैं नाना प्रकार के नहीं । उसी प्रकार व्यक्तिरूप से देवों के अनेक होने पर भी कोई हानि नहीं हैं, क्योंकि देवत्व सामान्य की अपेक्षा सब देव एक हैं ॥६१३॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि नाम की अपेक्षा क्रम से देव के अनन्त भेद रहे आवें, क्योंकि न्यायानुसार एक-एक गुण की अपेक्षा एक-एक नाम रखा जा सकता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार नाम की अपेक्षा देव के मुख्य रूप से संख्यात भेद ही सम्भव हैं, क्योंकि वचन व्यवहार इससे अधिक नहीं दिखाई देता है ॥६१४-६१५॥

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥616॥
कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यंचेति चतुष्टयम् ॥617॥

सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धेचाष्टगुणाः स्मृताः ॥618॥
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥619॥
अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥620॥

अन्वयार्थ : इसी से पूवाचार्यों ने सूत्र में यह कहा है कि तत्त्व वचन के अगोचर है और बारह अंग तथा अंगबाह्यरूप श्रुत स्थूल अर्थ को विषय करता है ॥६१६॥ सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से सिद्ध के ये आठ गुण होते हैं; क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख और आत्म से उत्पन्न होने वाला वीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय होते हैं । इनके सिवा सम्यकत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये चार गुण और होते हैं ॥ ६१७-६१८॥ इस प्रकार जो ज्ञानादि अनन्त धर्मों से युक्त है, आठ कर्मों से रहित है, मुक्त है और अठारह दोषों से रहित है वही देव सेवनीय है अन्य नहीं ॥६१९॥ वास्तव में वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष-मार्ग का उपदेशक है, वही भगवान है और वही मोक्ष-मार्ग का साक्षात् नेता है ॥६२०॥

+ गुरु का स्वरूप -

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।

गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्न्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥621॥
अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥622॥
भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनम् ॥623॥
अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥624॥
ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्त्वं हेतुदर्शनात् ।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याऽप्यसम्भवात्॥। 624॥
तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥626॥

अन्वयार्थ : इन अरहंत और सिद्धों से नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशत्व को धारण करनवाले है वे गुरु हैं. क्योंकि इनमें न्यायानुसार गुरु का लक्षण पाया जाता है । ये उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्था को धारण करनेवाले नहीं हैं ॥६२१॥ इनमें अवस्था विशेष पाई जाती है यह बात युक्त, अनुभव और आगम से सिद्ध है , क्योंकि उनमें शेष संसारी जीवों से कोई विशेष अतिशय देखा जाता है ॥६२२॥ भावि नैगमनय की अपेक्षा से जो होने वाला है, वह उस पर्याय

से युक्त की तरह कहा जाता है, क्योंकि उसमें नियम से भाव की व्याप्ति पाई जाती है इसलिये ऐसा कहना युक्तियुक्त है ॥६२२॥ उनमें दर्शन मोहनीय कर्म की उपशांति (उपश्म, क्षय, क्षयोपशम) हो जाने से सम्यगदर्शन भी पाया जाता है और चारित्रावरण कर्म का एकदेश क्षय (क्षयोपश्म) हो जाने से सम्यक्चारित्र भी पाया जाता है ॥६२४॥ इसीलिए उनमें स्वभाव से ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करनेवाला हेतु भी पाया जाता है । यत: उनके मोहनीय कर्म का उदय नहीं है अतः वहां मोहनीय कर्म का कार्य भी नहीं पाया जाता है ॥६२५॥ इनकी यह शुद्धता नियम से निर्जरा का कारण है , संवर का कारण है और क्रम से मोक्ष दिलाने वाली है -- यह बात सुप्रसिद्ध है ॥६२६॥

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत् त्रयम ॥627॥
निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥628॥
न्यायाद् गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोष संक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥620॥
नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावनां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥630॥

अन्वयार्थ : अथवा वह शुद्धता ही नियम से स्वयं निर्जरा आदि तीन रूप है, क्योंकि शुद्ध भावों

से अविनाभाव रखनेवाला द्रव्य इन तीन रूप ही होता है ॥६२७॥ आशय यह है कि आत्मा का जो शुद्ध भाव निर्जरा आदि का कारण है वही परम पूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परम गुरु है ॥६२८॥ न्यायानुसार गुरुपने का कारण केवल दोषों का नाश हो जाना ही है । जो निर्दोष है, वही जग का साक्षी है और वही मोक्ष-मार्ग का नेता है अन्य नहीं ॥६२९॥ मुनि की यह छद्मस्थता भी गुरुपने का नाश करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि रागादि अशुद्ध भावों का कारण एक मोह-कर्म माना गया है ॥६३०॥

+ प्रश्न -- कर्म के सद्भाव में छद्मस्थ के शुद्धता कैसे ? -

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥631॥

अन्वयार्थ : छद्मस्थ गुरुओं में दोनों आवरण कर्म और वीर्य का नाश करनेवाला अन्तराय कर्म नियम से है, इसलिये उनमें शुद्धता कैसे हो सकती है ?

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥632॥
तद्यथा बध्यमानेऽस्मिस्तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्त्वे सत्तवमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥633॥

नोहयं छाद्मस्थावस्थायामरर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥634॥
नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्-दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणम् क्रमात् ॥635॥
ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥636॥

अन्वयार्थ : यह बात ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मों का बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीय कर्म के साथ अविनाभावी है ॥६३१-६३२॥ खुलासा इस प्रकार है कि मोहनीय का बन्ध होने पर उसके साथ-साथ ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है । मोहनीय का: सत्त्व रहते हुए इनका सत्त्व रहता है, मोहनीय का पाक होते समय इनका पाक होता है और मोहनीय का क्षय होने पर इनका क्षय होता है ॥६३३॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि छदमस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने के पहले ही मोहनोय का क्षय हो जाता है, सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मोहनीय का एकदेश क्षय होने से इनका एकदेश क्षय होता है और मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से इनका भी स्वत: क्षय हो जाता है ॥६३४॥ सम्यग्दृष्टि के समस्त कर्मों की निर्जरा होती है यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि दर्शन-मोहनीय के उदय का अभाव होने पर वहां से लेकर वह उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी होने लगती है ॥६३५॥ इसलिये छदमस्थ गुरुओं के यद्यपि वर्तमान में तीनों कर्मों का सद्भाव कहा गया है । तथापि राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से उनमें गुरुपना माना गया है ॥६३६॥

अथास्त्यैकः स सामान्यात्सद्विशेषात् त्रिधा गुरुः ।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पर्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥637॥
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥638॥
एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥639॥
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥640॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः॥641॥
मार्गो मोक्षस्य सद्-दृष्टि ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहीः स्थितम् ॥642॥
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥643॥

किं वात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाऽच्छेशनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥644॥

अन्वयार्थ : वह गुरु सामान्य रूप से एक प्रकार का और अवस्था विशेष की अपेक्षा से तीन प्रकार का माना गया है । जैसे अग्नि यद्यपि एक ही है तो भी वह तिनके की अग्नि, पत्ते की अग्नि और लकड़ी की अग्नि इस तरह तीन प्रकार की कही जाती है, वेसे ही प्रकृत में जानना चाहिये ॥६३७॥ इनके ये भेद आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन हैं । ये तीनों ही मुनिकुञ्जर यद्यपि अपने-अपने विशेष-पद पर स्थित हैं ॥६३८॥ तथापि इनके मुनि होने का कारण एक है; क्रिया एक है, बाह्य भेष एक-सा है; बारह प्रकार का ताप एक-सा है; पांच प्रकार का व्रत एक-सा है; तेरह प्रकार का चारित्र एक-सा है; समता एक-सी है; मूल और उत्तर गुण भी एक-से हैं; संयम भी एक-सा है; परीषह और उपसर्गों का सहन करना भी एक-सा है; आहार आदि की विधि भी एक-सी है; चर्या, स्थान और आसन आदि भी एक-से हैं; मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप आत्मीक रत्नत्रय है, वह भी उनके भीतर और बाहर समान है । इसी प्रकार ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकार की आराधनाएँ और क्रोधादिक का जीतना, ये भी समान हैं ॥६४०-६४३॥ इस विषय में बहुत कहां तक कहें, उनका जो कुछ विशेष है वही कहना बाकी है, क्योंकि विशेष से जो भी शेष रह जाता है वह न्यायानुसार अविशेष (समान) कहलाता है ॥६४४॥

+ आचार्य का स्वरूप -

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥645॥

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥646॥
आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥647॥
न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीममानास्ति तत्क्रिया ॥648॥
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥649॥
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥650॥
न चाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥651॥
नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥652॥

अन्वयार्थ : अनादिकालीन रूढि और निरुत्त्यर्थ इन दोनों की अपेक्षा से आचार्य शब्द का यह अर्थ लिया जाता है कि जो संयमी दूसरों से पाँच आचार का आचरण कराता है, वह आचार्य है ॥६४५॥ तथा व्रत-भंग होने पर फिर से उस व्रत को जोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को जो आदेश द्वारा प्रायश्चित देता है, वह आचार्य है ॥६४६॥ उपदेशों से आदेश में पार्थक्य दिखलाने वाला यह अन्तर है कि आदेश में 'मैं गुरु के द्वारा दिये गये व्रत को स्वीकार करता हूं?' यह विधि मुख्य रहती है किन्तु उपदेशों में यह विधि मुख्य नहीं रहती ॥६४७॥ व्रतधारी गृहस्थों के लिए भी आचार्य का आदेश करना निषिद्ध नहीं है, क्योंकि दीक्षाचार्य के द्वारा दी गई दीक्षा के समान ही वह आदेशधि मानी गई है ॥६४८॥ किन्तु जो अव्रती हैं उनके लिये आगम की परिपाटी के अनुसार थोड़ा भी आदेश करना निषिद्ध है और इसी प्रकार कारणवश हिंसाकारी उपदेश करना भी उपयुक्त नहीं है ॥६४९॥ चाहे मुनिव्रत धारी हों और चाहे गृहस्थव्रत धारी हो इन दोनों के लिये हिंसा का अवलम्बन करने वाला आदेश और उपदेश नहीं करना चाहिये ॥६५०॥ जो यह प्रसिद्ध है कि व्रत-धारी मुनि मूर्तिमान् पदार्थों की समस्त शक्तियों को हस्तरेखा के समान दिखला देते हैं इसलिये उक्त उपदेश और आदेश उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि पूर्वोक्त उपदेश विरागियों के लिये राग का कारण नहीं है तो भी जो रागी हैं उनके लिए राग का कारण अवश्य है इसलिए उसका निषेध किया गया है ॥६५१-६५२॥

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥653॥
यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥654॥।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्ग भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥655॥
संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोस्त्यतः ॥656॥
यद्वा मोहात् प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यरित चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥657॥
उक्तव्रततपःशीलसंयमादिघरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥658॥

अन्वयार्थ : किन्तु सत्पात्रों के लिये दान और अरहंतों की पूजा, इन कार्यों में न तो वह आदेश ही निषिद्ध है और न वह उपदेश ही निषिद्ध है ॥६०५३॥ अथवा आदेश और उपदेश ये दोनों ही निर्दोष कार्यों के विषय में उचित माने गये हैं, क्योंकि जिस कार्य में सावद्य का लेशमात्र भी हो उस कार्य का आदेश करना कभी भी उचित नहीं है ॥६५४॥ कितने ही आचार्यों का मत है कि आचार्य असंयमी पुरुषों के साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रीति कर सकता है परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने वाला न तो आचार्य ही हो सकता है और न अरहन्त के मत का अनुयायी ही हो सकता है ॥६०५॥ जो संघ का पालन-पोषण करता है, वह आचार्य है ऐसा किन्हीं अन्य लोगों ने ही अपनी मति से कहा है अतः यही निश्चय होता है कि धर्म का आदेश और उपदेश के सिवा आचार्य का और कोई दूसरा उपकार नहीं है ॥६५६॥ अथवा मोह-वश या प्रमाद-वश हो कर जो लौकिकी-क्रिया को करता है, वह उतने काल तक आचार्य नहीं रहता; इतना ही नहीं किन्तु तब वह अन्तरंग में व्रतों से च्युत हो जाता है ॥६५७॥ इस प्रकार

पूर्वोक्त व्रत, तप, शील और संयम आदि को धारण करनेवाला आचार्य ही नमस्कार करने योग्य है और वही साक्षात् गुरु है । इससे भिन्न स्वरूप का घारण करने वाला न तो गुरु ही हो सकता है और न आचार्य ही हो सकता है ॥६५८॥

+ उपाध्याय का स्वरूप -

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥659॥
कविर्व्रत्त्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्मनाम् ॥660॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥661॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥662॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥663॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥664॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥665॥

अन्वयार्थ : समाधान करने वाला, वाद करने वाला, स्यादवाद विद्या का जानकार, वाग्मी, वचन ब्रह्म में पारंगत, सिद्धान्त शासत्र का पारगामी, वृत्ति तथा मुख्य सूत्रों का शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला होने से कवि, अर्थ की मधुरता का ज्ञान करने वाला और वक्तृत्व कला में अग्रणी उपाध्याय होता है ॥ ६५९-६६०॥ उपाध्याय होने में मुख्य कारण श्रुत का अभ्यास है । जो स्वयं पढ़ता है और शिष्यों को पढ़ाता है वह उपाध्याय है ॥६६१॥ उपाध्याय की व्रतादिक सम्बन्धी शेष सब विधि मुनियों के समान होती है । यह धर्म का उपदेश कर सकता है किन्तु आचार्य के समान किसी को आदेश नहीं कर सकता ॥६६२॥ शुद्ध बुद्धिवाला वह उन्ही आचार्यों के आश्रम में रहता है । उन्हीं के संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पंचाचार का पालन करता हैं ॥६६३॥ वह चिरकाल तक शास्त्रोक्त-विधि से मूल-गुणों और उत्तर-गुणों का पालन करता है । परीषह और उपसर्गों को जीतनेवाला होता है तथा जितेन्द्रिय होता है ॥६६४॥ यहां पर अधिक विस्तार करना व्यर्थ है, किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से मुनि के शुद्ध वेष को धारण करने वाला, बुद्धिमान्, निर्ग्रन्थ और गण में प्रधान होता है ॥६६५॥

+ साधु का स्वरूप -

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणेः ।

अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥666॥
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्-दृग्ज्ञप्तिपुरः सरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥667॥
नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तंपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिदर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥668॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिध्नुवानश्च परम् ।
स्तिमिन्तान्तर्बहिस्तुल्यो निस्तङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥669॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥670॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूठोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥671॥
निर्ग्रंथोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रंथको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥672॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।

एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥673॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥674॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार अपने लक्षणों से प्रसिद्ध उपाध्याय का स्वरूप कहा । अब साधु के लक्षण का विचार करते हैं जो कि आगम में भली-भांति सिद्ध है ॥६६६॥ मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यक्चारित्र है । जो आत्मसिद्धि के लिये इसका साधन करता है, वह साधु है । यह इसका सार्थक नाम है ॥६६७॥ यह साधु स्वस्थ रहता है इसलिये न तो कुछ कहता है , न हाथ पैर आदि से किसी प्रकार का इशारा करता है और न मन से ही कुछ विचार करता है। ६६८ । किन्तु वह मुनि केवल शुद्ध आत्मा में लीन रहता है, अन्तरंग और बहिरंग जल्प से रहित हो जाता है और तंरंग रहित समुद्र के समान शान्त रहता है॥ ६६९॥वह स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का थोड़ा भी न तो आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है फिर विपक्ष का तो कर ही कैसे सकता है ॥६७०॥ वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त, अधिक प्रभावान्, दिगम्बर जन्म के समय जैसा रूप होता है वैसे रूप को धारण करनेवाला, दया शील, निर्ग्रन्थ , अन्तरंग और बहिरंग मोह की गांठ को खोलनेवाला, व्रतों को जीवन पर्यंत पालनेवाला, गुणश्रेणिरूप से कर्मों की निर्जरा करनेवाला, तपरूपी किरणों द्वारा तपने से तपस्वी, परीषह और उपसर्ग आदि से अजेय, काम को जीतने वाला, शास्त्रोक्त विधि से आहार लेने वाला और प्रत्याख्यान में तत्पर इत्यादि अनेक प्रकार के साधु के योग्य अनेक गुणों को धारण करने वाला साधु होता है । ऐसा साधु कल्याण के लिये नियम से नमस्कार करने योग्य है; इससे विपरीत कोई यदि विद्वानों में श्रेष्ठ भी हो तो वह नमस्कार करने योग्य नहीं है ॥ ६७१-६७४॥

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।

तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरमात्मकः ॥674॥
तत्राच्चार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वादेशतोऽध्यक्षात्सिद्ध स्वात्मनि तत्परः ॥676॥
अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥677॥
अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
ब्रह्मार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥678॥
अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥679॥
सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद् द्वयोः ॥680॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार यद्यपि श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ इन तीन प्रकार के मुनियों का व्याख्यान किया । तथापि उनमें तरतमरूप कुछ विशेषता पाई ज्ञाती है ॥६७५॥ वह इस प्रकार है -- उन तीनों में जो दीक्षा और आदेश देता है वह गण का अग्रणी आचार्य है । यह अपनी आत्मा में लीन रहता है यह बात युक्ति आगम और अनुभव से सिद्ध है ॥६७६॥ इसके दर्शन-मोहनीय का अनुदय होता है इसलिये यह वास्तव में अपनी आत्मा में अतत्पर नहीं है । किन्तु इसके उससे अविनाभाव सम्बन्ध रखनवाला शुद्ध-आत्मा का

अनुभव नियम से पाया जाता है ॥६७७॥ दूसरे इसके चारित्र-मोहनीय का एकदेश क्षय भी पाया जाता है । क्योंकि चारित्र की हानि और लाभ केवल बाह्य पदार्थ के निमित्त से नहीं होता है ॥६७८॥ किन्तु उपादान कारण के बल से चारित्र की हानि या उसका लाभ होता है । तब भी अहेतु होने से बाह्य-वस्तु उसका कारण नहीं है ॥६७९॥ वास्तव में

संज्वलन कषाय के जो देशघाति स्पर्धक पाये जाते हैं उनका तीव्र और मन्द उदय ही क्रम से चारित्र की क्षति और अक्षति का कारण है ॥६८०॥

संक्लेशस्तज्जातिर्नूनं विशिद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥681॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥682॥
तत्रावश्यं विशुद्धयंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥683॥
किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः सक्लेशांशोदयः पुनः ॥684॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।

सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः ॥685॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्त्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥686॥
हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥687॥
दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥688॥

अन्वयार्थ : संक्लेश नियम से चारित्र की क्षति का कारण है और विशुद्धि चारित्र की क्षति का कारण नहीं है और वह संक्लेश तथा विशुद्धि भी अपने तरतमरूप अंशों की अपेक्षा अनेक प्रकार की है । और ये तरतमरूप अंश भी अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा अनेक प्रकार के हैं ॥६८१॥ अथवा कारणवश आचार्य के चारित्र में कदाचित् शिथिलता भी होवे और कदाचित् न भी होवे तो भी इतने मात्र से आचार्य अपनी आत्मा में अतत्पर हैं यह बात नहीं सिद्ध होती ॥६८२॥ उनके देशघाति स्पर्धकों के मन्द उदय होने से नियम से विशुद्धता होती है और देशघाति स्पर्धकों के तीव्र उदय होने से संक्लेश होता है यह विधि नहीं मानी गई है ॥६८३॥ किन्तु दैव-वश उनके कही पर विशुद्धयंश भी होता है और दैववश कहीं पर संक्लेश भी होता है । यदि चारित्र को विशुद्धि है तो विशुद्धंश होता है और फिर संक्लेशांश का उदय होता है ॥६८४॥ उन देशघाति स्पर्धकों का तीव्र-उदय तो केवल इतना ही आचार्य के बाघक है कि यदि वह सर्वथा प्रकोप का कारण है, ऐसा मान लिया जाय तो इस से बड़ा और कोई अपराध नहीं है ॥६८५॥ इसलिए यहाँ पर इतने मात्र से आचार्य के शुद्ध-अनुभव की च्युति नहीं की जा सकती, क्योंकि इसका कारण कोई दूसरा है ॥६८६॥ मिथ्यात्व-कर्म का अनुदय शुद्ध आत्मा के ज्ञान में कारण है और उसका तीव्र उदय उसमें

बाधक है, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय होने पर शुद्ध आत्मा के ज्ञान का विनाश देखा जाता है ॥६८७॥ दर्शन-मोहनीय का अभाव होने पर शुद्ध-आत्मा का अनुभव होता है इसलिये चारित्रावरण का किसी भी प्रकार का उदय उसका बाधक नहीं है ॥६८८॥

न चाकिन्चिकरश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य कृतेनालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥689॥
कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मद्रश्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥690॥
यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥691॥
कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥692॥
ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ।
अथ सरिरूपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ ।

साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥694॥
नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥695॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥696॥

अन्वयार्थ : एतावता चारित्रावरण का उदय अकिंचित्कर है यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि वह दर्शन-मोहनीय का कार्य करने में असमर्थ है, तथापि वह अपना कार्य करने में अवश्य समर्थ है ॥६८५॥ चारित्र-मोहनीय का कार्य आत्मा को चारित्र से च्युत करना है आत्म-दृष्टि से च्युत करना उसका कार्य नहीं, क्योंकि न्याय से विचार करने पर इतर दृष्टियों के समान वह भी एक दृष्टि है ॥६९०॥ जिस प्रकार दैव-योग से यदि किसी की एक आँख निर्मल है तो यह प्रत्यक्ष से देखते हें कि दूसरी आंख में संताप के होने पर भी उसकी हानि नहीं होती । उसी प्रकार चारित्र-मोह के उदय से चारित्र-गुण में विकार के होने पर भी आत्मा के सम्यक्त्व गुण की हानि नहीं होती ॥६९१॥ जब तक कषायों का अनुदय है तभी तक चारित्र है और कषायों का उदय ही आत्मा का चारित्र से च्युत होना है ॥६९२॥ इसलिये चाहे कषायों का अनुदय हो चाहे उदय हो पर दर्शन-मोहनीय के उदय के बिना इतनेमात्र से सम्यग्दर्शन की कोई हानि नहीं होती ॥६९३॥ अन्तरंग कारण की अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनों ही समान हैं, साधु हैं, साधु के समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध है और शुद्ध उपयोगवाले हैं ॥६९४॥ इन दोनों में परस्पर तरतमरूप कोई विशेषता नहीं है और न इन दोनों से साधु में भी अतिशयरूप से कोई भीतरी उत्कर्ष पाया जाता है ॥६९५॥ यदि इनमें परस्पर थोड़ी बहुत विशेषता है भी तो वह बाह्य-क्रिया कृत ही है क्योंकि इन तीनों का मूल कारण अन्तरंग शुद्धि जबकि समान है तो बाह्य विशेषता से क्या हानि है ? ॥६९६॥

नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्ति स्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥697॥
प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावेश्चैकैकशः पृथक् ॥698॥
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥699॥
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥700॥
परिपाठ्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥701॥

अन्वयार्थ : इन आचार्य, उपाध्याय और साथु के कषायों का कोई भी मन्दादि उदय नियत नहीं है । युक्ति, स्वानुभव और आगम से तो यही ज्ञात होता है कि इनके कैसे भी अंशो का उदय होता है ॥६०७॥ आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें से प्रत्येक के अनेक भेद हैं जो पृथक-पृथक एक-एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावों की अपेक्षा से प्राप्त होते हैं ॥६०८॥ कोई आचार्य कदाचित उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर फिर मध्यम या जघन्य विशुद्धि को प्राप्त होता है ॥६०९॥ नाना अविभाग प्रतिच्छेदों को लिये हुए प्रति-समय उदय में आने वाले संज्वलन-कषाय के देशघाती स्पर्धक ही इसका

कारण हैं, धर्म का आदेश या उपदेश आदि रूप बाह्य-क्रिया इसका कारण नहीं है ॥७००॥ जिस परिपाटी से आचार्यों के भेद बतलाय हैं इसी परिपाटी से उपाध्याय और साधुओं के भेद भी घटित कर लेने चाहिये क्योंकि युक्ति से विचार करने पर आचार्य से इनमें अन्तरंग में और कोई विशेषता शेष नहीं रहती; वे तीनों समान हैं ॥७०१॥

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥702॥

अन्वयार्थ : धर्म का उपदेश आदि बाह्य कार्य आचार्य आदि की विशेषता का कारण रहा आवे, क्योंकि बाह्य-हेतु कहीं पर अभ्यन्तर-हेतु का बाह्य निमित्त होता है ?

नैवमर्थाद्यतः सर्व वस्त्वकिन्चित्करं वहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥703॥
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥704॥
नास्यासिद्धं निरीहत्वं घर्मादेशादि कर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥705॥

अन्वयार्थ : ऐसा कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि समस्त बाह्य पदार्थ वास्तव में अकिंचित्कर हैं । अब यदि मोहवश कोई पर-पदार्थ को निज मानता है तो इसके लिये ये आचार्य आदि पद अवश्य ही फलवाले हैं । अर्थात् इनसे वह सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि कर सकता है ॥७०३॥ किन्तु जो बाह्य रुप आचार्य पद और धर्म का आदेश तथा उपदेश आदि रूप उसके फल को सर्वथा नहीं चाहता है उस आचार्य का तो फिर कहना ही क्या है अर्थात् उसकी अन्तरंग परिणति में ये बाह्य कार्य बिल्कुल ही कारण नहीं हो सकते ॥७०४॥ धर्म के आदेश आदि कार्यों में आचार्य निरीह होते हैं यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि न्याय से इन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा ही ईहा मानी गई है अन्यत्र की गई इच्छा कभी भी ईहा नहीं मानी गई है ॥७०५॥

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥706॥

अन्वयार्थ : कहीं भी क्रिया के बिना इच्छा नहीं होती है और इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती है इसलिये इन्द्रियों के विषय रहो या न रहो तथापि बिना इच्छा के क्रिया नहीं हो सकती ?

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥707॥
ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु ।

निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहि: कृत:॥708॥
किञ्चास्ती यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥709॥
तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।
क्षणमस्ति स्वत: श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥710॥
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥711॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह लक्षण क्षीण-मोही और उनके समीपवर्ती गुणस्थान वालों में अति-व्याप्त हो जाता है और यदि यहाँ भी इच्छापूर्वक क्रिया मानी जाती है तो बन्ध को नित्यता की आपत्ति प्राप्त होने से मुक्ति असम्भव हो जाती है ॥७०७॥ इसलिये 'विशुद्धि के नाना अंशो की अपेक्षा से अन्तरंगकृत भेद है' -- यह पक्ष सामान्य रूप से तीनों में माना जाना चाहिये । इसे बाह्य-क्रिया की अपेक्षा से मानना उचित नहीं है ॥७०८॥ दूसरे परमागम में जो यह सार्थक रूढि प्रसिद्ध है कि साधु पद को प्राप्त किये बिना नियम से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है ॥७०९॥ सो इस विषय में समस्त पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ देव ने यह ठीक ही कहा है कि श्रेणी पर चढ़े हुए जीव के वह साधु-पद क्षणमात्र में स्वतः प्राप्त हो जाता है ॥७१०॥ क्योंकि चाहे आचार्य हो या उपाध्याय श्रेणि पर चढ़ने के समय वह नियम से सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोध रूप ध्यान को धारण करता है ॥७११॥

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥712॥
न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनां वरम् ।
प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥713॥
उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥714॥

अन्वयार्थ : इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि आचार्य और उपाध्याय के श्रेणी आरोहण के समय साधु पद् अनायास होता है क्योंकि वहां पर बाह्य उपयोग को कोई अवकाश नहीं है ॥७१२॥ किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापनारूप उत्तम चारित्र को ग्रहण करके पश्चात् साधुपद को धारण करता है ॥७१३॥ इस प्रकार यहां पर प्रसंगवश संक्षेप से गुरु का लक्षण कहा । उन का शेष स्वरूप विशेषरूप से जिनागम से जानना चाहिये ॥७१४॥

+ धर्म का स्वरूप और उसके भेद -

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्रा जवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥715॥
स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।

तत्र सद्-दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥716॥
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा ।
सद्दक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥717॥
रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥718॥
सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥719॥
तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥720॥
सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥721॥
मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम् ।
तथाऽनगारिणाम् न स्युः सर्वतः स्युः परेप्यतः ॥722॥

अन्वयार्थ : जो धर्मात्मा पुरुष को नीच स्थान से उठाकर उच्च स्थान में धरता है वह धर्म है । यहाँ संसार नीच-स्थान है और उसका नाश रूप मोक्ष उच्च-स्थान है ॥७१५॥ वह धर्म सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनरूप है । उन तीनों में से सम्यग्दर्शन इन दोनों के समीचीनपने का एकमात्र कारण है ॥७१६॥ इसलिये गृहस्थ-धर्म या मुनिधर्म जो भी धर्म है वह सम्यग्दर्शन पूर्वक होने से ही धर्म है । सम्यग्दर्शन के बिना कहीं भी धर्म नहीं ॥७१७॥ फिर भी रूढि से शरीर और वचन की शुभ फल देनेवाली क्रिया को धर्म कहते हैं या शरीर और वचन की शुभ-क्रिया के साथ जो अनुकूल मन की प्रवृत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं ॥७१८॥ संपूर्ण गृहस्थ और मुनियों के भेद से वह क्रिया दो प्रकार की है क्योंकि क्रिया के भेद से ही धर्म में भेद होता है ॥७१९॥ इन दोनों में से जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रह इनसे एकदेश विरति है वह ग्रहस्थों का अणुव्रत कहा गया है ॥७२०॥ और इन हिंसादिक का सर्वदेश त्याग महाव्रत कहा गया है । इस मुनि व्रत को गृहस्थ धारण नहीं कर सकते ॥७२१॥ जिस प्रकार ग्रहस्थों के मूलगुण और उत्तरगुण एकदेश होते हैं, उस प्रकार मुनियों के नहीं होते । किन्तु उनके वे सर्व-देश होते हैं ॥७२२॥

+ ग्रहस्थ धर्म -

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधरणा इमे ॥723॥
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥724॥
एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥725॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥726॥
यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥727॥
त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥728॥
दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥729॥

अन्वयार्थ : उनमें से व्रतधारी ग्रहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं । कहीं-कहीं ये अव्रतियों के भी होते हैं, क्योंकि ये सर्वसाधारण धर्म हैं ॥७२३॥ ये आठ मूलगुण स्वभाव से या कुलाम्नाय से पलते हुए चले आते हैं । इनके बिना जीवों के न तो व्रत ही होता है और न सम्यक्त्व ही होता है ॥७२४॥ इनके बिना जब यह जीव नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता है तब फिर वह पाक्षिक, गूढ़, नैष्ठिक और साधक कैसे हो सकता है ॥७२५॥ जिसने मद्य, मांस और मधु का त्याग कर दिया है और जिसने पांच उदम्बर फलों को छोड़ दिया है, वह नाम से श्रावक कहलाता है । किन्तु जो मद्य, मांस आदि का त्यागी नहीं है वह नाम से भी गृहस्थ नहीं है ॥७२६॥ इसी प्रकार ग्रहस्थों को यथाशक्ति व्यसनों का त्याग करना चाहिये और कल्याणप्रद क्रियाओं को चाहने वाले व्रती ग्रहस्थों को तो उनका अवश्य ही त्याग करना चाहिये ॥७२७॥ तथा ग्रहस्थों को आगम में इनके अतीचार रूप जो दोष कहे गये हैं उनका भी त्याग कर देना चाहिये । इसके विपरीत ऐसा कौन श्रावक है जा मद्य, मांस आदि का सेवन करेगा ? ॥७२८॥ उत्तम श्रावकों को

जधन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों के लिए पात्र-शुद्धि और श्रद्धा-पूर्वक चार प्रकार का दान देना चाहिये ॥ ७२९॥

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥730॥
शेषेभ्य: क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवै: ॥731॥
पूजामप्यर्हतां कुर्याद् यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधी: ॥732॥
सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पदयो: स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाधा पूजां विदध्यात् त्रिशुद्धित: ॥733॥
सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्-ब्रह्मचारिणाम् ॥734॥
नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।

देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥735॥
जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दृष्या नाऽवद्यलेशतः ॥736॥
सिद्धानामर्हताश्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्-प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥737॥
अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥738॥

अन्वयार्थ : कुपात्र और अपात्र के लिये भी यथायोग्य दान देना चाहिये । किन्तु इनके लिये पात्र-बुद्धि से दान का देना निषिद्ध है कृपा-बुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है ॥७३०॥ इसी प्रकार दया सिन्धु श्रावकों को अशुभ-कर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, आदि से दुःखी शेष दीन-प्राणियों को भी अभयदान आदि देना चाहिये ॥३३१॥ उत्तम बुद्धि वाला श्रावक अरहंतों की पूजन करे । अथवा अरहंत को बुद्धि से उनकी प्रतिमाओं की पूजन करे । और स्वर तथा व्यंजनों की स्थापना करके अर्थात सिद्ध-चक्र यन्त्र बना कर सिद्धों की भी पूजन करे ॥७३२॥ तथा वह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के आगे पहले मन, वचन और काय की शुद्धि-पूर्वक उनके चरणों की स्तुति करके फिर आठ प्रकार की पूजा करे ॥७३३॥ तथा वह व्रती या अव्रती सहधर्मी जनों का और विशेष रूप से ब्रह्मचारियों का यथा-शक्ति सम्मान आदि करे ॥७३४॥ इसी प्रकार जो नारियाँ व्रतों से परिपूर्ण हैं उनका भी जिनागम में सम्मान आदि करना निषिद्ध नहीं माना है । इसलिये लोक-व्यवहार के अनुकूल उनका भी सम्मान आदि करे ॥७३५॥ गृहस्थ को अपनी संपत्ति के अनुसार जिनमन्दिर आदि के निर्माण सें सावधानता रखनी चाहिये । यद्यपि इनके बनवाने में थोड़ा पाप लगता है पर वह निंध्य नहीं है ॥७३६॥ इसी प्रकार ज्ञानी श्रावक चैत्यालयों में सिद्धों के और अरहंतो के

यंत्र और मनोहर प्रतिमाओं की स्थापना करके उनकी शीघ्र ही प्रतिष्ठा करा ले ॥३३७॥ तथा तीर्थयात्रादिक में अपने मन को सदा उद्यत रखे । और वह श्रावक वहां पर भी संयम की विराधना न करे ॥७३८॥

नित्ये नैमत्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैयस्तद्विशेषतः ॥739॥
संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥740॥
तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यंचानतिवीर्यसात् ॥741॥
उक्तं दिङ्मात्रतोःप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्सविस्तरम् ॥742॥

अन्वयार्थ : इसी प्रकार श्रावक को नित्य और नैमत्तिक जिनबिम्ब- महोत्सवों में शिथिलता नहीं करनी चाहिये । तथा तत्त्व के जानकार पुरुषों को विशेषरूप से शिथिलता नहीं करनी चाहिये ॥७३९॥ इसीप्रकार गृहस्थ कों दोनों प्रकार का संयम धारण करना चाहिए । या तो प्रतिभा रूप ब्रतों को धारण करना चाहिये । या अपनी उक्त्यनुसार प्रतिमाओं के विना व्रत का धारण करना चाहिये ॥७४०॥ तप बारह प्रकार का है जो बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। अपनी शक्ति को न छिपा कर इन बारह प्रकार के तपों को करना चाहिये । या इनमें से किसी एक तप को करना चाहिये ॥७४१॥ इस प्रकार यहां

प्रसंगवश संक्षेप में गृहस्थों का व्रत कहा है । विस्तार से इसका कथन उपासकाध्ययन के अनुसार सावकाश आगे करेंगे ॥७४२॥

+ यति-धर्म -

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥743॥
सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥744॥

(उक्तञ्च)

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणाम् चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥745॥

अन्वयार्थ : यति के अठाईस मूलगुण होते हैं । वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्ष का मूल होता है । कभी भी इनमें से न तो कोई कम होता है और न अधिक ही होता है ॥७४३॥ समस्तरूप इन सब गुणों के द्वारा ही पूरा मुनि-व्रत सिद्ध होता है व्यस्तरूप इन सब गुणों के द्वारा नहीं, क्योंकि एक अंश को ग्रहण करनेवाले नय की अपेक्षा तो वह व्यस्तरूप ही सिद्ध होता है पूरा मुनि-व्रत नहीं सिद्ध होता ॥७४४॥

कहा भी है --

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इंद्रियों का निरोध करना, केश लोंच , छह आवश्यक, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, जमीन में सोना, दंतधावन नहीं करना, खड़े होकर आहार लेना और एक बार भोजन करना ये अठाईस मूल गुण हैं । जैनशासन में यतियों के ये मूलगण कहे हैं उनके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं ॥७४५॥

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥746॥
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद् व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये॥747॥
अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्व सावद्ययोगस्य निर्वृतिर्व्रतमुच्यते ॥748॥
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः ।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥749॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।

सूक्ष्मश्चाबृद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥750॥
तस्याभावान्निर्वृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥751॥

अन्वयार्थ : इसलिये जैसा सागार धर्म कहा गया है और जैसा मुनिधर्म कहा गया है, उन दोनों में सामान्य रीति से प्राणियों का संरक्षण मूल है ॥७४६॥ इसी प्रकार विस्तार से क्रियारूप जितना भी व्रतों का समुदाय कहा गया है वह केवल एक सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति के लिये ही कहा गया है ॥७४७॥ अर्थात् जिनमत का यही उपदेश है और यही आदेश है कि सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति को ही व्रत कहते हैं ॥७४८॥ यहाँ पर सर्व शब्द से उसका यौगिक अर्थ अन्तरंग और बहिरंग वृत्ति लिया गया है तथा सर्व सावद्य शब्द का अर्थ प्राणों का छेद करना है और वही हिंसा कही गई है । इस हिंसा में जो बुद्धि-पूर्वक उपयोग होता है वह योग है या जो अबुद्धि-पूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है वह भी योग है ॥७४९-७५०॥ तथा इस सर्व सावद्ययोग का अभाव होना ही उससे निवृत्ति है और वही वास्तव में व्रत माना गया है । यदि सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति अंशरूप से होती है, तो व्रत भी एकदेश होता है और यदि वह सब प्रकार से होती है तो व्रत भी सर्व-देश होता है ॥७५१॥

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥752॥
लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥753॥

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥754॥
आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृते नातः परत्र तत् ॥755॥
सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥756॥
ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयाद्दते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥757॥
चारित्रं निर्जरा हेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हत् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥758॥
रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥759॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥760॥

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥761॥
नोह्यम् प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरञ्जसा ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥762॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार यह बात सब प्रकार से सिद्ध हो गई कि प्राणियों पर दया करना बाह्य व्रत है और कषायों का त्याग करना अन्तरंग व्रत है । अपनी आत्मा पर कृपा भी यही है ॥७५२॥ क्योंकि जब तक असंख्यात लोकप्रमाण वे रागादिक भाव रहते हैं, तब तक ज्ञानदिक धर्मों की हिंसा होने से आत्मा की हिंसा होती रहती है ॥७५३॥ आशय यह है कि वास्तव में रागादि भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रत से च्युत होना है और रागादिक का त्याग करना ही अहिंसा है, व्रत है अथवा धर्म है ॥७५४॥ आगम में जो अपने और दूसरे प्राणियों के शरीर की रक्षा का निर्देश किया गया है वह भी केवल आत्मरक्षा के लिये ही किया गया है पर के लिये नहीं ॥७५५॥ रागादि भावों के होने पर कर्मों का बन्ध नियम से होता है और उस बंधे हुए कर्म के उदय से आत्मा को दुख होता है, इसलिये 'रागादि भावों का होना आत्मवध है' यह बात सिद्ध होती है ॥७५६॥ इसलिये मोहनीय कर्म के उदय के आभाव में जो शुद्धोपयोग होता है उसका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है ॥७५७॥ 'चारित्र सब प्रकार से अपनी अर्थक्रिया को करता हुआ भी निर्जरा का कारण है' यह बात न्याय से भी अबाधित है इसलिये वह दीपक के समान सार्थक नामवाला है ॥७५८॥ यद्यपि रूढि से शुभोपयोग भी चारित्र इस नाम से प्रसिद्ध है परन्तु वह अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है इसलिये वह निश्चय से सार्थक नाम वाला नहीं है ॥७५९॥ किन्तु वह अशुभोपयोग के समान वास्तव में बन्ध का कारण है इसलिये यह श्रेष्ठ नहीं है । श्रेष्ठ वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥७६०॥ 'अशुभपयोग विरुद्ध कार्यकारी है' यह बात विचार करने पर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से बन्ध का कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है ॥७६१॥ बुद्धिदोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि

'शुभोपयोग एकदेश निर्जरा का कारण है', क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्ध के अभाव का कारण है ॥७६२॥

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥763॥

(उक्तञ्च)

चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

अन्वयार्थ : कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है । वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है ॥७६३॥

कहा भी है --

'निश्चय से चारित्र ही धर्म है और जो धर्म समभाव को कहते हैं । मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही धर्म है ॥'

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैमेक्षिपद्धतिः ।
समस्तैरेव ने व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥764॥

अन्वयार्थ : जबकि सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के मिलने पर ही मोक्ष-

मार्ग होता है एक-एक के रहने पर नहीं, तब फिर केवल चारित्र को मोक्षमार्ग कहने से क्या प्रयोजन है ?

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥764॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥766॥
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ॥767॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥768॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥769॥
तेषामन्यतमोद्देशो नास्ति दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥770॥

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥771॥

(उक्तञ्च)

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।
उक्तो धर्म स्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्संगतोंऽशतः ।
कर्विलब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥772॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है तथापि सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान ये दोनों मिलकर चारित्र में गर्भित हैं, क्योंकि तीनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से ये तीनों अखण्डित हैं ॥७६४-७६५॥ दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन, यह ज्ञान और चारित्र इन दोनों में सम्यक् विशेषण का हेतु है । अथवा जो ज्ञान और चारित्र नूतन होते हैं उनमें सम्यक् विशेषण का एकमात्र यही हेतु ॥७६६॥ इसका यह अभिप्राय है कि पहले का जो ज्ञान और चारित्र होता है वह सम्यग्दर्शन के होने पर समीचीन हो जाता है । अथवा सम्यग्दर्शन यह अभूतपूर्व ज्ञान और चारित्र को जन्म देता है ॥७६७॥ शुद्ध आत्मा के जानने की शक्ति जो कि ज्ञान में अतिशय लाने वाली लब्धिरूप है वह सम्यक्त्व के होने पर ही होती है । अथवा शुद्ध भाव भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता हे ॥७६८॥ और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यर्दशन के बिना होता है तो वह न ज्ञान है और न चारित्र है । यदि है तो केवल कर्म बंध करने वाला है ॥७६९॥ इसलिये इन तीनों में से किसी एक का कथन करना कभी भी दोषदायक नहीं है , क्योंकि मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों उसके साधक माने गये हैं ॥७७०॥

प्रश्न के अभिप्राय को जाननेयाले पुरुषों को संक्षेप में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये कि रागांशरूप परिणामों से बन्ध होता है और रागांशरूप परिणामों के नहीं रहने से कभी

भी बन्ध नहीं होता ॥७७१॥ कहा भी है -- "जिस अंश से यह सम्यग्दृष्टि है उस अंश से इसके बन्ध नहीं होता है । किन्तु जिस अंश से राग है उस अंश से इसके बन्ध अवश्य होता है ॥" इस प्रकार प्रसंगवश संक्षेप से युक्तियुक्त धर्म का स्वरूप कहा । कवि यथावकाश उसका विस्तार से कथन आगे करेगा ॥७७२॥

देवे गुरौ तथा धर्मे द्रष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्याताप्यमूढ़दृष्टिः स्यादन्यथा मूढ़दृष्टिता ॥773॥
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥774॥

अन्वयार्थ : समस्त कथन का सार यह है कि देव, गुरु और धर्म में यथार्थता को देखनेवाली दृष्टि ही अमूढदृष्टि कही गई है और इससे विपरीत दृष्टि ही मूढदृष्टि है ॥७७३॥ यह भी सम्यक्त्व का गुण है । यह किसी प्रकार भी दोषकारक नहीं है , क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है, वह नियम से अमूढदृष्टि होता है और जो सम्यग्दृष्टि नहीं है वह अमूढदृष्टि कभी नहीं होता ॥७७४॥

+ उपबृहण गुण -

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।

लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥775॥
आत्मशुद्धेरदोर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्-दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ॥776॥
जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥777॥
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥778॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां कांचिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥779॥
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं न वाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥780॥
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपब्रंहणम् ।
उर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥781॥
अवश्यम्भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥782॥
न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥783॥
यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥784॥
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥785॥
उपब्रंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥786॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव का उपबृहण नाम का भी एक गुण है । आत्मीक शक्तियों की नियम से वृद्धि करना यह इसका लक्षण है ॥७७५॥ आत्मा की शुद्धि में दुर्बलता न आने देना या उसकी पुष्टि करना उपबृहण है । अर्थात् आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप भाव से च्युत नहीं होने देना ही उपबृहण है ॥७७६॥ यह जीव जानता हुआ भी आत्मसाक्षात्कार के विषय में पूरी तरह से पुरुषार्थ नहीं कर पाता । तथापि पुरुषार्थ की प्रेरणा देता हुआ ही मानो इस विषय में प्रयत्नवान रहता है ॥७७७॥ यह शुद्धोपलब्धि में रंचमात्र भी प्रमादी नहीं होता है किन्तु प्रमाद रहित होकर आदर से आत्मीक कार्यों में लगा रहता है ॥७७८॥ अथवा शुद्धोपलब्धि के लिये यह उस आत्मीक कार्य में उपयोगी पड़ने वाली किन्ही बाहरी सत्क्रियाओं का भी अभ्यास करता है ॥७७९॥ जैसे पारद भस्म को सेवन करता हुआ भी कोई पुरुष पथ्य करता है और कोई पुरुष पथ्य नहीं भी करता है । जो पथ्य करता है वह अपने रोग से

मुक्ति पा लेता है और जो पथ्य नहीं करता है वह अपनी नीरोगता को भी खो बैठता है । वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये ॥७८०॥ अथवा सम्यग्दृष्टि के बिना ही प्रयत्न के स्वभाव से उपबृहण गुण होता है, क्योंकि इसके ऊपर गुण श्रेणी निर्जरा पाई जाती है ॥७८१॥ इसके समस्त कर्मों की प्रति-समय असंख्यातगुण क्रम से निर्जरा अवश्य होती रहती है ॥७८२॥ इसलिए यह बात युक्ति से प्राप्त हुई कि इसके जितने रूप में कर्मों का क्षय होता है उतनी शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है । इस प्रकार वृद्धि के बाद वृद्धि बराबर होती जाती है ॥७८३॥ इसके जैसे-जैसे विशुद्धि की भीतर प्रकाश देनेवाली वृद्धि होती है वैसे-वैसे इन्द्रियों के विषय में भी इसके उपेक्षा होती जाती है ॥७८४॥ इसलिये बड़े भारी क्रियाकाण्ड में वह सम्यग्दृष्टि अंपनी शक्ति को न छिपावे । किन्तु प्रयत्न से भी अपनी शक्ति को बढ़ावे ॥७८५॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का जो उपबृंहण नाम का गुण है वह भी गुणों की गणना में आ जाता है । वह दोषाधायक नहीं है ॥७८६॥

+ स्थितीकरण -

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
घर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥787॥
न प्रमाणीकृतं बृद्धै धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥788॥
परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥789॥

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्ष धर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥790॥
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदद्धेतोः कर्मोदयात्सवतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥791॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि का एक स्थितीकरण नाम का गुण है । जो धर्म से च्युत हो गया है उसका धर्म में स्थित करना स्थितीकरण है। किन्तु अधर्म से च्युत हुए जीव को अधर्म में स्थित करना स्थितीकरण नहीं है ॥७८७॥ कितने ही अल्प-ज्ञानी भावी-धर्म की आशा से सावद्य का उपदेश देते है किन्तु ज्ञानी पुरुषों ने घर्म के लिए अधर्म का सेवन करना प्रमाण नहीं माना है ॥७८८॥ अधर्म के सेवन करने से परम्परा धर्म होता है ? इस पक्ष को यहां थोड़ा भी अवकाश नहीं है, क्योंकि मूर्ख को छोड़कर, कोई भी प्राणी मोहवश शीत के लिये अग्नि में प्रवेश नहीं करता है ॥७८९॥ पहले अधर्म का सेवन करना यह धर्म का पूर्व रूप नही हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर व्याप्ति पक्षधम से रहित हो जाती है और हेतु व्यभिचारी हो जाता है ॥७९०॥ प्रतिसमय जबतक कर्मों का उदयरूप हेतु मौजूद है तबतक स्वतः धर्म भी हो सकता है और अधर्म भी हो सकता है यह सर्वत्र नियम है ॥७९१॥

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥792॥

अन्वयार्थ : यह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कि वह स्थितीकरण स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है । अपनी आत्मा को अपने आत्म-तत्त्व में स्थित करना यह स्थितीकरण है और अन्य की आत्मा को

उसके आत्म-तत्त्व में स्थित करना यह परस्थितीकरण है ॥७९२॥

+ स्वस्थितिकरण का स्वरुप निर्देश -

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥793॥
अयं भावः क्वचिद्दैवाद्ददर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रज त्यूर्ध्वं पुनर्देवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥794॥
अथ क्वचिद्यथाहेतु दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽघोंशैरूउर्ध्वमुर्ध्वं प्ररोहति ॥795॥
क्वचिद्बहिः शुभाचारं- स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥796॥
यद्वा बहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥797॥
नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।

अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥798॥
अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥799॥

अन्वयार्थ : मोह के उदय की तीव्रता-वश आत्म-स्थिति से डिगे हुए आत्मा को फिर से अपनी आत्मा में स्थित करना स्वस्थितीकरण है ॥७९३॥ आशय यह है कि कभी दैववश वह जीव सम्यग्दर्शन से नीचे गिर जाता है । और कभी दैववश सम्यक दर्शन को पाकर ऊपर चढ़ता है ॥७९४॥ अथवा कभी अनुकूल कारण सामग्री के मिलने पर सम्यग्दर्शन से नहीं गिरता हुआ भी भावों की शुद्धि को नीचे-नीचे के अंशो से ऊपर-ऊपर को बढ़ाता है ॥७९५॥ कभी यह जीव बाह्य शुभाचार को स्वीकार करके भी छोड़ देता है और कदाचित् नहीं भी छोड़ता है । या कदाचित् छोड़ कर पुनः प्रहण कर लेता है ॥७९६॥ अथवा बाह्य क्रियाचार से अवस्थानुसार स्थित रहता हुआ भी कदाचित् अन्तरंग भावों से देदीप्यमान होता हुआ स्थित रहता है ॥७९७॥ और यह बात असम्भव भी नहीं है, क्योंकि इसके अपने तरतमरूप अंशों के कारण हीनाधिक अवस्था को प्राप्त होने वाला चारित्र-मोहनीय का उदय पाया जाता है ॥९९८॥ यहां इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण होता है । इसमें कोई अन्य कारण नहीं है । यदि किसी नीति-वश इसमें किसी अन्य कारण की कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ॥७९९॥

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥800॥
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।

नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥801॥

(उक्तञ्च)

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं व कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥
उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥802॥

अन्वयार्थ : अपने पद से भ्रष्ट हुए अन्य जीवों को सदनुग्रहभाव से उसी पद में फिर से स्थापित कर देना यह परस्थितीकरण है ॥८००॥ धर्म के आदेश और उपदेश द्वारा ही दूसरे का अनुग्रह करना चाहिये । किन्तु अपने व्रत को छोड़कर दूसरे जीवों की रक्षा करने में तत्पर होना उचित नहीं है ॥८०१॥

कहा भी है --.

'सर्व प्रथम आत्महित करना चाहिये । यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनों में से आत्महित भले प्रकार करना चाहिये । इस प्रकार संक्षेप से यहाँ पर स्थितीकरण गुण कहा जो कि सम्यग्दृष्टि जीव के गुणश्रेणी निर्जरा में भलीप्रकार प्रसिद्ध है ॥

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धर्हम्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चर्तुविधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥803॥
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।

सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥804॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद् द्दष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥804॥
तद-द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥8409॥
परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥807॥
इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो द्दश्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥808॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार उत्तम सेवक स्वामी के कार्य में दासभाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकार का संघ और शास्त्र इन सब में दासभाव रखना वात्सल्य अंग है ॥८०३॥ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सिद्ध प्रतिमा आदि में से किसी एक पर घोर-उपसर्ग आने पर वह सम्यग्दृष्टि जीव इसके दूर करने के लिये सदा तत्पर रहता है ॥८०४॥ अथवा यदि आत्मीक सामर्थ्य नहीं है तो जबतक मन्त्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई बाधा को न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है ॥८०५॥ स्व और पर के भेद से वह वात्सल्य दो प्रकार का है । इनमें से अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है और अन्य आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य गौण है ॥८०६॥ परीषह और उपसर्ग आदि से कहीं पर पीड़ित होकर भी शुभाचार में, ज्ञान में और ध्यान में शिथिलता न लाना यह पहला स्व-वात्सल्य है ॥८०७॥ दूसरा पर-वात्सल्य इस ग्रन्थ में पहले

कह आये हैं । वह भी सम्यग्दृष्टि का प्रकट गुण है क्योंकि शुद्ध ज्ञान के बल से ही बाधा दूर की जा सकती है ॥८०८॥

+ प्रभावना गुण -

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्ष करणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥809॥
अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्म पक्ष क्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥810॥
पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः ।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोऽप्यतः ॥811॥
उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥812॥
मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चीदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥813॥

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
उर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥814॥
बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥815॥
परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किन्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥816॥
उक्तः प्रभावनांङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥817॥
इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्-दृगात्मनः ।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥818॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन का एक प्रभावना नामक गुण है । इसका लक्षण उत्कर्ष करना है । इसी से यह जाना जाता है ॥८०९॥ हिंसा अतद्धर्म है इसलिये इस पक्ष का थोड़ा भी पोषण नहीं करना चाहिए क्योंकि अधर्म के उत्कर्ष का पोषण करने से धर्म पक्ष की हानि होती है ॥८१०॥ पहले अंगों के समान यह अंग भी स्वात्मा और परात्मा के भेद से दो प्रकार का है । उनमें से पहला अच्छी तरह से उपादेय है और इसके बाद दूसरा भी उपादेय है ॥८११॥ यतः धर्म को हानि पहुँचाने वाले असमीचीन कारणों के रहने पर अधिक बल लगा कर धर्म की वृद्धि करना ही उत्कर्ष है अतः ऐसा उत्कर्ष किसी भी हालत में दोषकारक नहीं है ॥८१२॥ कोई जीव मोहरूपी शत्रु का नाश होने से शुद्ध हो जाता है । कोई शुद्ध से शुद्धतर हो

जाता है और कोई शुद्धतम हो जाता है । इस प्रकार अपना उत्कर्ष करना स्वात्म-प्रभावना है ॥८१३॥ यह सब पौरुषाधीन नहीं है किन्तु स्वभाव से ही ऐसा होता है क्योंकि ऊपर-ऊपर जैसे गुण-श्रेणी निर्जरा बढ़ती जाती है तदनुसार आगे-आगे उसकी सिद्धि होती है ॥८१४॥ विद्या और मन्त्र आदि बल के द्वारा तथा तप और दान आदि के द्वारा जैन-धर्म का उत्कर्ष करना बाह्य-प्रभावना अंग है ॥८१५॥ जो अन्य लोग मिथ्यात्व का उत्कर्ष चाहते हैं उनका अपकर्ष करने के लिए महापुरुषों को कुछ ऐसे कार्य करने चाहिये जो चमत्कार पैदा करनेवाले हों ॥८१६॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का प्रभावना नाम का गुण कहा । जिसके कारण सम्यग्दर्शन के आठों गुण पूर्णता को प्राप्त होते हैं ॥८१७॥ इन आठ गुणों के सिवा सम्यग्दृष्टि के और भी बहुत से गुण हैं । किन्तु उनका विचार करना छोड़ कर प्रकृत में जो विवक्षित है उसका कथन करते हैं ॥८१८॥

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्-दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥819॥
श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥820॥

अन्वयार्थ : प्रकृत बात यह है कि आत्मा का निज स्वरूप चेतना है और वह तीन प्रकार की है -- कर्मचेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना । उनमें से सम्यग्दृष्टि को ज्ञान चेतना उपादेय है ॥८१९॥ इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के जो श्रद्धान आदि गुण बतलाये हैं, सो वे बाह्य-कथन के छल से ही बतलाये हैं । वास्तव में उसका ज्ञान-चेतना यही एक लक्षण है ॥८२०॥

+ सम्यग्दर्शन के निश्चय / व्यवहार या सराग / वीतराग भेद पर स्पष्टीकरण -

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद् व्यवहारतः ॥821॥
व्यवहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम ।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥822॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाश्चिन्मोहवशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्-दृष्टेर्ज्ञानचेतना॥823॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः ।
एकः कश्चित्सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥824॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्-दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥825॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्याज्ज्ञानचेतना ॥826॥
इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।

तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥827॥
अत्रोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥828॥
सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुद्दक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकताम् ॥829॥
वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्त्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशयाः ॥830॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दर्शन के विषय में ऐसी यौगिक व लौकिक रूढ़ि है कि वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ॥८२१॥ उनमें से जो सराग और सविकल्प है वह व्यवहार सम्यक्त्व है । तथा जो वीतराग और निर्विकल्प है वह निश्चय सम्यक्त्व है ॥८२२॥ इसप्रकार किन्ही मोही जीवों के वासनाजन्य संस्कार बना हुआ है । उनके मत में वीतराग सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानचेतना होती है ॥८२३॥ उन्होंने सम्यक्त्व के दो भेद करके तदनुसार स्वामी के भी दो भेद कर लिए हैं । एक सराग सम्यग्दृष्टि और दूसरा वीतराग सम्यग्दृष्टि ॥८२४॥ उनमें से जो निर्विकल्प वीतराग सम्यग्दृष्टि है, उसी के ज्ञान चेतना होती है । दूसरे सराग सम्यग्दृष्टि के यह ज्ञान चेतना कभी नहीं होती ॥८२५॥ सविकल्प और सरागी व्यवहार सम्यग्दृष्टि के प्रतीतिमात्र ही होती है । उसके ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है ॥८२६॥ बुद्धि के दोष से खोटे आशयवाले जो जीव ऐसा कहते हैं उनका जितना भी श्रुत का अभ्यास है वह केवल काय-क्लेश के लिए ही है ॥८२७॥ अब यहाँ पर आचार्य शान्तिकारक वचनों के द्वारा इसका समाधान करते हैं, क्योंकि दूध में उफान के आने पर उसमें निर्मल जल डालना ही ठीक है ॥८२८॥ मिथ्यादृष्टि जीव हाथी के समान मय घास फूस के सब कुछ खा जाता है, इसीलिए हे प्राज्ञ ! तू ऐसे अज्ञान को छोड़-छोड़ और

विवेक से काम ले ॥८२९॥ जिस प्रहार मिले हुए अनेक पदार्थों में से अग्नि की उष्णता अलग की जा सकती है उसी प्रकार भो आत्मज्ञ ! तू अन्य पदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक् कर सकता है, इसलिये आंख से देखकर भी अन्धा बनकर भ्रम में मत पड़ ॥८३०॥

+ विकल्प का विचार -

विकल्पो योगसंक्रातिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थाद् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः ॥831॥
क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवात् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसम्भवात् ॥832॥
अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात् ॥833॥
तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थ विशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥834॥
विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥835॥

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥836॥
इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत् ।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥837॥
इयं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्व या ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा ॥838॥

अन्वयार्थ : वास्तव में विकल्प योग संक्रान्ति का नाम है अर्थात् एक ज्ञेय से हट कर दूसरे ज्ञेय से सम्बन्ध रखनेवाली तदाकार जो ज्ञान की पर्याय होती है उसे विकल्प कहते हैं ॥८३१॥ यह क्षायोपशमिक है । वास्तव में यह इन्द्रिय और पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होता है, क्योंकि जो क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान है उसमें संक्रान्ति किसी भी हालत में सम्भव नहीं है ॥८३२॥ यद्यपि अपने लक्षण के अनुसार क्षायिक ज्ञान भी विकल्पात्मक है । परन्तु वह वास्तव में विकल्प के अर्थे से अर्थान्तराकार योग संक्रान्ति रूप लक्षण के अनुसार विकल्पात्मक नहीं है ॥८३३॥ क्षायिक ज्ञान में स्व और अपूर्व अर्थ को विशेषरूप से ग्रहण करना ही विकल्प का लक्षण है, क्योंकि उसका विषयभूत अर्थ एक है और उसके आकार का नाम ही सविकल्पता है ॥८३४॥ ऐसा विकल्प अर्थात ज्ञान का स्वलक्षणरूप विकल्प इस अधिकार में थोड़ा भी नहीं लिया गया है । किन्तु योग-संक्रान्तिरूप जो विकल्प है वही यहां पर लिया गया हे ॥८३५॥ इन्द्रियजन्य ज्ञान तो कहीं भी योग-संक्रान्ति के बिना नहीं होता है, क्योंकि इसकी प्रतिक्षण एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में संक्रान्ति होती रहती है ॥८३६॥ और यह ज्ञान क्रमवर्ती होता है, अक्रमवर्ती नहीं होता क्योंकि यह एक पदार्थ को छोड़ कर ही दूसरे पदार्थ को विषय करता है ॥८३७॥ यह इस ज्ञान की आवश्यक वृत्ति है क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान की इस वृत्ति के साथ समव्याप्ति होने से यह कथंचित् अभिन्न के समान है । यह वृत्ति इसी ज्ञान में होती है अन्य ज्ञान में नहीं । इसे दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इस ज्ञान में यही वृत्ति

होती है, अन्य नहीं ॥८३८॥

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्-ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥839॥
एकरूपभिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः ।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥840॥
नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥841॥
नोहयं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥842॥
यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥843॥
नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥844॥

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्न कारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥845॥

अन्वयार्थ : जो क्षायोपशमिक ज्ञान किसी एक विषय में निरन्तर रहता है वह यद्यपि ध्यान कहलाता है तथापि इसमें भी वास्तव में क्रम ही पाया जाता है अक्रम नहीं ॥८३९॥ वह ध्यानरूप एकाग्रता के कारण एकसा प्रतीत होता है पर है वास्तव में यह पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप और क्रमवर्ती ॥८४०॥ इस क्षायोपशमिक ज्ञान में क्रमपने की सिद्धि करने में अर्थ से अर्थान्तराकार होना ही केवल हेतु नहीं है किन्तु उसी एक अर्थ में क्रम से पुनः पुनः प्रवृत्ति करना भी उसकी सिद्धि में हेतु है ॥८४१॥ ध्यानरूप ज्ञान का यह लक्षण क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान में अतिव्याप्त हो जाता है ऐसा तर्क भी यहाँ नहीं करना चाहिये, क्योकि यद्यपि क्षायिक ज्ञान परिणामी है तथापि उसकी पुनः पुनः प्रवृत्ति सम्भव नहीं है ॥८४२॥ इसलिये यह सिद्ध हुआ कि छद्मस्थ जीवों के चारों ही ज्ञान नियम से क्रमवर्ती हैं और इसलिये वे संक्रमण रूप हैं ॥८४३॥ जिसका मुख्य लक्षण संक्रान्ति कहा है ऐसी यह क्षायोपशमिक ज्ञान-शक्ति किसी प्रकार भी दोष पैदा करने में समर्थ नहीं है । कारण कि यद्यपि यह वैभाविक है तथापि ज्ञान-शक्ति के समान यह भी एक शक्ति है ॥८४४॥ 'वह क्षायोपशमिक ज्ञान, ज्ञान-चेतना का तो बाधक होगा ही' यदि कोई ऐसा कहे सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही होती है इसलिये उसका भेद ज्ञान-चेतना का शत्रु नहीं हो सकता ॥८४५॥

+ शंका -- क्या ज्ञान आत्मा से अन्यत्र संक्रांत होता है ? -

नतु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम् ॥846॥

अन्वयार्थ : ज्ञान की एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में संक्रान्ति होती है यदि यह प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थ में भी ज्ञानचेतना होती है ?

नतु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम् ॥846॥
सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद् व्यभिचारता।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना॥847॥
किन्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखंडैकधारया॥848॥
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥849॥
कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥840॥
अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।

लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यत: ॥851॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्न चामुना॥852॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात्॥853॥
नूनं कर्म फले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात् सर्वत : प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः॥854॥
सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा॥855॥
शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्याज्ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्प: स एवार्थादर्थासंक्रान्तसंगते: ॥856॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है कि हेतु के विपक्ष में रहने से व्यभिचार दोष आता है किन्तु यहाँ पर अन्यात्मा के सिवा केवल स्वात्मा में ही ज्ञानचेतना मानी गई है इसलिये व्यभिचार दोष नहीं आता। ज्ञानचेतना के विषय में ऐसा नियम है कि वह सब सम्यग्दृष्टि जीवों के धारा प्रवाह रूप से अथवा अखण्ड एक धारारूप से सदा पाई जाती है ॥८४६-८४८॥ इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व के साथ ,अन्वय होने के कारण समीचीन ज्ञानचेतनालब्धि अपने आवरण कर्म के अभाव से वहाँ सदा पाई जाती है ॥८४९॥ यह

ज्ञान चेतना उपयोग सहित कदाचित् ही होती है, परन्तु उपयोग और लब्धि की समव्याप्ति नहीं होने से यह लब्धिरूप ज्ञानचेतना का विनाश करने में समर्थ नहीं है ॥८५०॥ यहाँ पर लब्धि और उपयोग में विषम व्याप्ति है , क्योंकि लब्धि की क्षति होने से उपयोग की क्षति नियम से हो जाती है ॥८५१॥ किन्तु उपयोग का अभाव होने से लब्धि की क्षति होती भी है और नहीं भी होती है, क्योंकि लब्धि की ही सम्यग्दर्शन के साथ व्याप्ति है उपयोग की नहीं ॥८५२॥ इसलिये जिनागम से यह बात सिद्ध हुई कि सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम अवश्य हो जाता है और सम्यक्त्व के अभाव में उसका क्षयोपशम नहीं होता ॥८५३॥ किन्तु तब कर्मफल चेतना या कर्मचेतना होती है यह बात प्रमाण से सर्वथा सिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों में बलवान है ॥८५४॥ इतना कहने से यह सिद्ध होता है कि उक्त लक्षणवाली जो लब्धि है वह उपयोगरूप नहीं होने के कारण स्वतः निर्विकल्प है ॥८५५॥ और शुद्ध स्वात्मोपयोगरूप जो ज्ञान चेतना है वह भी वास्तव में अर्थ संक्रान्ति से रहित होने के कारण स्वयं निर्विकल्प है ॥८५६॥

+ शंका -- सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में भी क्या उपयोग होता है ? -

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्कश्चिद्ध हिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मन: ॥857॥

अन्वयार्थ : अब यहाँ पर केवल इतने ही प्रश्न को अवकाश मिलता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में भी क्या उपयोग होता है ?

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।

यत्कश्चिद्ध हिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः॥857॥
अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत्॥858॥
निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति॥859॥
स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि॥860॥
स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः ।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥861॥
तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया ।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः॥862॥
चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया ।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात॥863॥
दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंऽशांशतोऽथवा ।

संवराग्रेसरायाश्र निर्जरायाः क्षतिर्मनाक्॥864॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्य हेयस्याप्यपकर्षणम्॥865॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किन्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥866॥
गुणः सम्यकत्वसम्भूतिरुत्कर्षों वा सतोंशकैः ।
निर्जराभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाकू ॥867॥
उत्कर्षो वानयोरंशेर्द्धयोरन्यतरस्य वा ।
श्रयोबन्धोऽथवोत्कर्षों यद्वा स्यादपकर्षणम्॥868॥
गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोऽस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्॥869॥

अन्वयार्थ : ज्ञानोपयोग की महिमा -

शंका- अब यहाँ पर केवल इतने ही प्रश्न को अवकाश मिलता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में भी क्या उपयोग होता है ?

समाधान- ज्ञानोपयोग के स्वभाव की ऐसी महिमा है कि वह दीपक के समान स्व का, पर का और दोनों का प्रकाशक है॥८५७-८५८॥ वह एक को जाने और दूसरे को न जाने ऐसा भेद किये बिना

जिस प्रकार अपने स्वरुप को और ज्ञेय इन दोनों को जानता है. उसी प्रकार वह अमूर्त और मूर्त धर्मादिक पदार्थों को भी जानता है॥८५९॥ वह अपने स्वरूप में ही उपयुक्त होता है अथवा अपने स्वरूप में उपयुक्त नहीं भी होता है। इसी प्रकार वह कभी पर पदार्थ में ही उपयुक्त होता है अथवा पर पदार्थ में उपयुक्त नहीं भी होता है॥८६०॥ जब वह अपने स्वरूप में ही उपयुक्त रहता है तब वह वास्तव में उत्कर्ष का कारण नहीं है और जब वह पर पदार्थ में उपयुक्त रहता है तब वह वास्तव में अपकर्ष का कारण नहीं है ॥८६१॥

इसलिये अपने स्वरूप में स्थित रहने के लिये अन्य पदार्थ से हटकर एकत्व जोड़ने की इच्छा से किसी अनर्थ में मत फस और भो महाग्राज्ञ ! प्रयोजनभूत अर्थ को जानने का ही प्रयत्न कर॥८६२॥ प्रवृत्ति के अनुसार ही ज्ञान सब पदार्थों को विषय करता है लीला से नहीं। इसलिये प्रयोजनवश सदा ही उसका प्रत्येक पदार्थ को विषय करना न तो दोषकारक ही है और न गुणकारक ही॥८६३॥

सर्वांशरूप से सम्यग्दर्शन की हानि होना, अथवा अंश रूप से उसकी हानि होना, संवर की अपेक्षा प्रधानभूत निर्जरा की कुछ हानि होना, अलग अलग इन दोनों की हानि होना, या मिलकर इन दोनों की हानि होना, सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा हेयरूप पुण्यबन्ध की हानि होना, या उसका घट जाना, पापबन्ध की उत्पत्ति होना या उसका बढ़ जाना या इन दोनों की कुछ उद्वेलना आदि होना ये सब दोष हैं।॥८६४-८६६॥

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, या उसका आंशिक उत्कर्ष, या कुछ नवीन निर्जरा का होना, या कुछ नवीन संवर का होना , या इन दोनों का या इनमें से किसी एक का अंशरूप से उत्कर्ष होना, पुण्यबन्ध होना या उसका उत्कर्ष होना या उसका अपकर्ष नहीं होना ये सब गुण हैं ॥८६७-८६८॥ इस प्रकार जितने भी गुण दोष बतलाये हैं उनका कारण उपयोग नहीं है और इनमें से किसी एक का भी कारण उपयोग नहीं है। तथा यह योगवाही भी नहीं है ॥८६९॥

विशेषार्थ - ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह जैसे स्व को जानता है वैसे ही पर को भी जानता है, पर इससे उसकी न तो हानि ही होती है और न लाभ ही होता है। हानि लाभ के कारण अन्य हैं, ज्ञानोपयोग नहीं इतना मात्र निश्चित है। सम्यग्ज्ञान योगवाही नहीं है इसका यह भाव है कि वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति इनमें से किसी का भी हेतु नहीं है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण अन्य हैं और अनुत्पत्ति के कारण अन्य हैं। उनका कारण ज्ञानोपयोग नहीं यह बात स्पष्ट है ॥८५८-८६९॥

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद् दृङ् मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥870॥
दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥871॥
सार्ध तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥872॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥873॥
सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥874॥
आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात् परात्मनि ।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥875॥
यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा ।

रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥876॥
व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्य चाव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥877॥
नानेकत्वमसिद्धं स्यान्न स्याद् व्याप्तिर्मिथोऽनयोः ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः ॥878॥
कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ् मोहस्याथ नान्यथा ॥879॥
क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते ।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥880॥
अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम् ।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥881॥
किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥882॥
अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम् ।

रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसम्भवात् ॥883॥

अन्वयार्थ : उपयोग सम्यग्दर्शन आदि किसी की उत्पत्ति में हेतु नहीं है-

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से जीव का सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है। इसका दर्शनमोहनीय के उपशमादिक के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि इन दोनों की व्याप्ति पाई जाती है॥८७०॥ दैववश दर्शनमोहनीय का अभाव (उपशमादि) होने पर तदनन्तर सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है और दैववश दर्शनमोहनीय का अभाव नहीं होने पर सम्यग्दर्शन गुण प्रकट भी नहीं होता है । इससे प्रतीत होता है कि यह उपयोग इनमें से किसी एक का भी योगवाही नहीं है॥८७१॥ उस उपयोग के साथ दोनों की व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि उपयोग के बिना भी दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यक्त्व गुण प्रकट होता हुआ पाया जाता है ॥।८७२॥ इसी प्रकार जिन निर्जरादिक का सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है उनकी उपयोग के साथ थोड़ी भी व्याप्ति नहीं है ॥८७३॥ उस समय चाहे उपयोग हो चाहे न हो किन्तु सम्यक्त्व के होने पर निर्जरादिक अवश्य होते हैं उनका अभाव नहीं किया जा सा सकता॥८७४॥ ज्ञान चाहे आत्मा में उपयुक्त हो चाहे परात्मा में उपयुक्त हो। किन्तु तब सम्यक्त्व रूप भावों के होने पर वे निर्जरादिक होते ही हैं॥८७५॥ इसी प्रकार जितना भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध है वह राग, द्वेष और मोह से होता है। वह उपयोग के आधीन नहीं है॥८७६॥ बन्ध की व्याप्ति रागादिक के साथ है ज्ञान विकल्पों के समान रागादिक के साथ उसकी अव्याप्ति नहीं है । और ज्ञान विकल्पों के साथ बन्ध की अव्याप्ति है, रागादिक के समान ज्ञान विकल्पों के साथ उसकी व्याप्ति नहीं है॥ ८७७॥ राग और उपयोग ये भिन्न भिन्न हैं यह बात असिद्ध नहीं है और न इन दोनों की परस्पर में व्याप्ति ही है किन्तु इन दोनों में उपेक्षा है। अर्थात् इनमें से कोई एक किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता॥८७८॥ इन दोनों में से रागादिक का अर्थ कलुषता है। यह औदायिक भाव है , क्योंकि यह चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय के उदय से होता है अन्य प्रकार से नहीं॥८७९॥ और जो क्षायोपशमिक ज्ञान है वह उपयोग कहलाता है, क्योंकि यह ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से होता है॥८८०॥ राग अपने हेतु से होता है और ज्ञान अपने हेतु से। स्वरूप भेद से जब कि ये पृथक पृथक हैं तब फिर ये एक कैसे हो सकते हैं॥ ८८१॥ दूसरे जब ज्ञान होता है तब ज्ञान ही होता है अन्य नहीं। और जब रागादिक होते हैं तब रागादिक ही

होते हैं ज्ञान नहीं ॥८८२॥ इस विषय में उदाहरण यह है कि ज्ञान की वृद्धि होने पर रागादिक की वृद्धि नियम से नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि के साथ रागादिक की वृद्धि का अविनाभाव नहीं पाया जाता॥ ८८३॥

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित् ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समाद्वयोः ॥884॥
ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात् सतः ॥885॥
यद्वा द्वैवात्तत्सामग्रयां सत्यां हानिः समं द्वयोः ॥
आत्मीयात्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः॥886॥
व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह॥887॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् समा तथा व्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि॥888॥
व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।

सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥889॥
व्याप्तित्त्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥890॥
मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्यासम्भवादपि ॥891॥
व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वास्य स्वहेतुतः ॥892॥
अव्याप्तिश्चोपयोगेऽपि विद्यमानेऽष्टकर्मणाम् ।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥893॥
यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान् ।
व्यतिरेकावकाशोऽपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥894॥
सर्वत्रश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै ।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥895॥

अन्वयार्थ : और रागादिक की वृद्धि होने पर कहीं भी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती । अथवा अपनी अपनी सामग्री के मिलने पर इन दोनों की वृद्धि एक साथ होती है । ८८४॥ ज्ञान के प्रतिपक्षी कर्म का क्षय

होने से ज्ञान की वृद्धि होने पर भी मोहनीय कर्म का उदय रहने से रागादिक की हानि नहीं भी होती है ॥८८५॥ अथवा दैववश अपनी अपनी हानि के योग्य सामग्री के मिलने पर दोनों की जो एकसाथ हानि होती है वह अपने अपने कारणों से ही होती है एक दूसरे के कारणों से नहीं॥८८६॥ अथवा उपयोग की द्रव्य मोहनीय कर्म के साथ व्याप्ति नहीं है । हाँ ज्ञानावरण के साथ रागादिक की व्याप्ति अवश्य है॥८८७॥ किन्तु अन्वय और व्यक्तिरेक दोनों प्रकार से इनकी विषम व्याप्ति ही है, किसी भी कारण से इनकी समव्याप्ति नहीं है॥८८८॥ प्रकृत में व्याप्ति की असिद्धि साध्य है और व्यभिचारीपन हेतु है। और वह व्यभिचारीपना इस प्रकार घटित होता है कि एक के रहने पर दूसरा नहीं होता है। यदि होता है तो अपने अपने कारण से होता है। आशय यह है कि ज्ञान और राग में सम व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यभिचार दोष आता है॥८८९॥ परस्पर में साहचर्य सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है । जैसे जिसके होने पर जो होता ही है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं ही होता है॥८९०॥ राग के सद्भाव में बन्ध नियम से होता है और रागादिक के अभाव में बन्ध नहीं होता, इसलिए यहाँ पर समव्याप्ति नहीं है ॥८९१॥ किन्तु विषम व्याप्ति इसलिए है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के रहने पर भी रागभाव का अभाव पाया जाता है। यदि रागादि का सद्भाव पाया भी जाता है तो इसका अपने कारणों से ही सद्भाव पाया ज्ञाता है ॥८९२॥ तथा उपयोग के रहने पर भी ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का या उनमें से किसी एक का बन्ध नहीं होता है और उपयोग के नहीं रहने पर भी उनका बन्ध रुकता नहीं। इससें ज्ञात होता है कि उपयोग के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध की व्याप्ति नहीं है ॥८९३॥ अथवा सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही स्वोपयोग सहित है उपयोग से रहित किसी भी अवस्था में नहीं है , इसलिये वास्तव में यहां व्यतिरेक के लिए अवकाश ही नहीं है ॥८९४॥ इतने कथन से यहां पर सम्पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि यह उपयोग न तो सम्यग्दर्शन का ही कारण है और न बन्ध मोक्ष का ही कारण है॥८९५॥

+ शंका -- क्या जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उसी के ज्ञान चेतना होती है, क्योंकि जब आत्मा के सिवा किन्हीं बाह्य पदार्थों में ज्ञानोपयोग होता है तब ज्ञानचेतना की क्षति नियम से सिद्ध होती है? -

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा ।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥896॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार तो वही अर्थ फलित होता है जो पहले प्रकरण में आ चुका हैं। जैसे कि पहले यह कहा जा चुका है कि जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उसी के ज्ञान चेतना होती है, क्योंकि जब आत्मा के सिवा किन्हीं बाह्य पदार्थों में ज्ञानोपयोग होता है तब ज्ञानचेतना की क्षति नियम से सिद्ध होती है?

आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु ।
ज्ञानसंचतेनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ॥897॥
सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित् ।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥898॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥899॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है तथापि किसी जीव के ज्ञानचेतना का अभाव होने मात्र से आठ कर्मों की निर्जरा रूप साध्य की क्षति नहीं होती है। ज्ञान चेतना का कर्म निर्जरा में भी कारण न होना यही उपयोग का स्वरूप है ॥८९७-८९८॥ प्रकृत में साध्य आठों कर्मों की निर्जरा है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है। ऐसा स्वभाव है कि प्रत्येक शक्ति अपने कारण से होती इसीलिए उसका कारण ज्ञान चेतना नहीं है ॥८९९॥

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत् ।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥900॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व और ज्ञान को जो विकल्पात्मक बतलाया है सो यह विकल्प आकाशफूल के समान आश्रयासिद्ध है। तब फिर यह बतलाइये कि सर्वज्ञ देव के आगमानुसार ऐसा कौन सा अबाधित हेतु सिद्ध है जिससे यह जाना जा सके कि सम्यक्त्व और ज्ञान विकल्पात्मक है ?

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात् ।
सम्यकत्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥901॥
यत्पुनः केश्चिदुत्कं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥902॥

अन्वयार्थ : शंका- सम्यक्त्व और ज्ञान को जो विकल्पात्मक बतलाया है सो यह विकल्प आकाशफूल के समान आश्रयासिद्ध है। तब फिर यह बतलाइये कि सर्वज्ञ देव के आगमानुसार ऐसा कौन सा अबाधित हेतु सिद्ध है जिससे यह जाना जा सके कि सम्यक्त्व और ज्ञान विकल्पात्मक है ?

समाधान- यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान अपने लक्षण के अनुसार विकल्परूप माना गया है। किन्तु सम्यक्त्व में जो विकल्प का व्यवहार होता है वह परीक्षा करने पर भी सिद्ध नहीं होता॥९००-९०१॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान की महिमा का निर्देश करते समय यह बतला आये हैं कि सम्यग्दर्शन,

राग, बन्ध, निर्जरा या संवर अपने अपने कारणों से होते हैं. इनका कारण उपयोग नहीं है। यहाँ इसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। सम्यग्दर्शन का कारण दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है जो जीव के उसकी योग्यतानुसार प्रकट होता है । राग द्वेष का कारण भी उसकी आन्तरिक परिणति है। बन्ध का कारण राग द्वेष और मोह है। संवर का कारण मुख्यतया सम्यग्दर्शन या चारित्र है और निर्जरा के कारण भी यही हैं, क्योंकि इनको उक्त कारणों के साथ व्याप्ति पाई जाती है पर

उपयोग के साथ इनमें से किसी एक की व्याप्ति नहीं पाई जाती। उपयोग रहता है पर इनमें से कोई नहीं होता और उपयोग नहीं भी रहता है पर यथायोग्य ये पाये जाते हैं, इसलिये उपयोग को इनका कारण नहीं मानना चाहिये। यही कारण है कि ज्ञानचेतना का सद्भाव और अभाव राग के असद्भाव और सद्भाव पर अवलम्बित नहीं माना गया है। इसलिये सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ये भेद करना और मात्र वीतराग के ज्ञानचेतना कहना उचित नहीं है। जो आचार्य राग के आधार से इस प्रकार का विभागीकरण करते है मालूम होता है कि वे वास्तविकता से कोसों दूर हैं। ज्ञान विकल्पात्मक होता है यह सही है पर इसका कारण रागभाव न होकर उसका स्वरूप है । फिर भी सम्यक्त्व को तो किसी भी हालत में सविकल्प नहीं माना जा सकता है । वह जीव की ऐसी अवस्था है जो सदा काल किसी भी प्रकार के विकल्प से परे है । वह छद्मस्थों के अनुभवगम्य और केवल ज्ञानियों के प्रत्यक्षगम्य है। राग, उपयोग और सम्यग्दर्शन एक ही आत्मा में प्रकट होते हैं पर इनका सांकर्य करके एक के स्वभाव को दूसरे पर आरोपित करना उचित नहीं है । इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन के सविकल्प और निर्विकल्प ऐसे दो भेद करना या सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद करना उचित नहीं हे। इसी प्रकार राग के कारण ज्ञान को भी सविकल्प मानना उचित नहीं है॥ ८७८-९०१॥

सम्यक्त्व में विकल्प व्यवहार करने का कारण उपचार है -

किन्तु किन्हीं स्थूलदृष्टिवाले पुरुषों ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को उपचार से सविकल्प कहा है सो यहाँ उपचार का क्या कारण है इसी बात को अब आगे बतलाते हैं॥९०२॥

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्सवरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥903॥
प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थमर्थ परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद् द्विषद्यथा ॥904॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥905॥
अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत् ॥906॥
अस्त्युक्तलक्षणो रागाश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥907॥
अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्न वा ॥908॥
विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम ॥909॥

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम् ।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥910॥
ततस्तूर्ध्वम् तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥911॥
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना ।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषाश्चित्स न सन्निह ॥912॥
यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणं चापि पराश्रितम् ॥913॥
पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कृतो न्यायाज्ज्ञाने वानुदयात्मके ॥914॥
अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः ।
नूतं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसन्चेतनामिमाम् ॥915॥

अन्वयार्थ : क्षायोपशमिक ज्ञान एक एक पदार्थ के प्रति परिणमन करता है किन्तु यह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। इसका कारण रागक्रिया है ॥९०३॥ जितने भी पदार्थ हैं उनमें से एक एक अर्थ के प्रति ज्ञान परिणमन करता है इसका यह अभिप्राय है कि ज्ञान एक एक पदार्थ के प्रति मोह करता है, राग

करता है और द्वेष करता है ॥९०४॥ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यह बात सिद्ध है, कि रागी पुरुष के जैसा रागयुक्त ज्ञान अक्षान्त होता है वैसा वीतराग मुनि के नहीं होता ॥९०५॥ बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान का अविनाभावी है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि अज्ञात अर्थ में आकाशफूल के समान रागभाव नहीं पाया जाता है ॥ ९०६॥ इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाला जो राग है वह चारित्रमोहनीय के उदय से अप्रमत्त गुणस्थान के पहले पहल तक ही पाया जाता है। इससे आगे के गुणस्थानों में नहीं पाया जाता ॥९०७॥ और ऊपर के गुणस्थानों में जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है वह क्षीणकषाय गुणस्थान से पहले पहले ही होता है । फिर भी विवक्षावश वह है भी और नहीं भी है ॥९०८॥ केवल इसी बात का विचार करके किन्हीं आचार्यों ने उपचरितासद्भूत व्यवहार नय से उक्त गुणस्थानों में रागसहित ज्ञान को देखकर सम्यक्त्व को भी वैसा कहा है ॥९०९॥ केवल इसी हेतु से स्थूलदृष्टि वाले जिन आचार्यों ने ऐसा स्मरण किया है कि प्रमत्त संयत गुणस्थान तक सम्यक्त्व और ज्ञान सविकल्प हैं ॥९१०॥ तथा इससे आगे के गुणस्थानों में सम्यक्त्व और ज्ञान निर्विकल्प हैं। वही शुक्ल ध्यान है और वहीं पर ज्ञान चेतना होती है ॥९११॥ किन्तु प्रमत्त जीवों के विकल्प पाया जाता है इसलिये उनके वह शुद्धचेतना नहीं होती। उन आचार्यों के ऐसा वासनोन्मेष बना हुआ है पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी वस्तु में रहने वाला गुण और दोष किसी दूसरी वस्तु को नहीं प्राप्त होता और दूसरी वस्तु भी किसी दूसरी वस्तु में रहने वाले गुण और दोष को नहीं प्राप्त होती ॥ ९१२-९१३॥ यतः रागभाव चरित्रमोहनीय के उदय से होने के कारण स्पष्टत: औदयिक है अत: वह अनुदयरूप सम्यक्त्व और ज्ञान में किस न्याय से हो सकता है, अर्थात नहीं हो सकता ॥९१४॥ जब कि यह बुद्धिपूर्वक राग सम्यक्त्व का नाश नहीं करता तब फिर वह इस ज्ञान चेतना का नाश तो किसी भी हालत में नहीं कर सकता है ॥९१५॥

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोऽपि या ।
बन्धोत्कर्षोंदयांशानां हेतुर्द्दङ् मोहकर्मणः ॥916॥

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्याद् दृगसंभवः ।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥917॥
न स्यात्सम्यक्त्व प्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ् मोहेऽनधिकारिणा ॥918॥
यतश्चास्त्यागमात्सिद्ध मेतद् दृङ् मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥919॥

अन्वयार्थ : यदि कोई ऐसा तर्क करे कि इस राग की यह शक्ति है कि वह दर्शनमोहनीय के बन्ध, उत्कर्ष, उदय और सत्व का कारण है सो उसका ऐसा तर्क करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं बन सकती है | फिर तो सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना असम्भव हो जायगा, क्योंकि नाश की सामग्री रहने पर कार्य का नाश होना अवश्यंभावी है॥९१६-९१७॥ सच तो यह है कि चारित्रावरण कर्म के उदय से सम्यक्त्व का नाश नहीं होता है , क्योंकि यह राग दर्शनमोह के विषय में अनधिकारी है॥९१८॥ दूसरे आगम से भी यह बात सिद्ध है कि दर्शनमोहनीय कर्म के बन्ध आदि स्वोदय से ही होते हैं परोदय से नहीं होते ॥९१९॥

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्ताद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥920॥

न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ् मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याथवा मनाक् ॥921॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु ।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥922॥
अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात्॥923॥
अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः॥924॥।
दृङ् मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥925॥
स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥926॥
अथ चेत्तद् द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।

न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥927॥
नागमः कश्चिदस्तीदृग्धेतुर्दृङ् मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः ॥928॥
तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ् मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥929॥
तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथावश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥930॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कर्म की जो प्रकृति आदि रूप से नाना प्रकार की पुदगल की अचिन्त्य शक्तियां है उनके विषय में तुम वस्तुतः अनभिज्ञ हो ॥९२२॥ जिस प्रकार अनादि काल से कर्मों का उदय स्वयं हो रहा है उसी प्रकार उनका उपशम भी स्वयं होता है। इस प्रकार मोक्ष होने के पहले पहले ये उदय और उपशम बराबर होते रहते हैं ॥९२३॥ यदि ऐसा न मान कर स्वयं दर्शनमोहनीय के उपशम द्वारा सम्यक्त्व का घात स्वीकार किया जाय तो असिद्ध दोष आता है अनवस्था दोष आता है और अन्योन्याश्रय दोष आता है जो कि दुर्वार है ॥९२४॥ दर्शनमोहनीय का उदय यदि राग के आधीन माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि वह राग भी स्वाधीन है या दूसरे राग के आधीन है ॥९२५॥ राग चारित्रमोहनीय के उदय से स्वतः होता है इसलिये स्वाधीन है यदि ऐसा माना जाय तो जिस प्रकार राग स्वयं होता है उसी प्रकार यह दर्शनमोह भी स्वाधीन है ऐसा क्यों नहीं माना जाता, क्योंकि यह भी स्वतः अपने उदय से होता है॥९२६॥ यदि कहा जाय कि इन दोनों की सिद्धि एक दूसरे के कारण होती है तो न्यायानुसार अन्योन्याश्रय दोष आता है जिससे किसी एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती है । दोनों असिद्ध दोष के भागी हो जाते हैं ॥९२७॥ और ऐसा तो आगम भी नहीं बतलाता कि दर्शनमोहनीय का कारण राग

है और राग का कारण दर्शन मोहनीय कर्म है ॥९२८॥ इसलिये यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि चाहे दर्शनमोहनीय कर्म का उदय या अनुदय हो या चाहे अन्य कर्म का उदय या अनुदय हो, दूसरा कोई चारा न होने से होता है वह अपने आप ही ॥९२९॥ इसलिये सम्यक्त्व एक ही है । यह यों ही नहीं किन्तु वास्तव में अपने लक्षण के अनुसार भी वह एक ही है, अतः उसके सद्भाव में ज्ञान चेतना नियम से होती है ॥९३०॥

+ सम्यक्त्व के भेद और उसके कारण -

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबंधकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥931॥
तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रमेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥932॥
प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः ।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥933॥
स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बन्धः स्याद्रससंज्ञिकः ।
शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥934॥
ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते ।

ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥935॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व के भेद और उनका कारण -

मिश्र (क्षायोपशमिक) औपशमिक और क्षायिक ये सम्यक्त्व के तीन भेद हैं । इनमें स्थिति-बन्धकृत ही भेद है रसबन्ध (अनुभागबन्ध) की अपेक्षा से भेद नहीं है॥९३१॥

विशेषार्थ- सम्यक्त्व के तीन भेद हैं- क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से होता है, औपशमिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के उपशम से होता है और क्षायिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के क्षय से होता है। दर्शनमोहनीय का अनुदय इन तीनों ही सम्यक्त्वों में पाया जाता है। कहीं पर वह क्षयोपशमरूप से पाया जाता है, कहीं पर उपशमरूप से और कहीं पर क्षय रूप से, इतना निश्चित है कि दर्शनमोहनीय के उदय से एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये सम्यक्त्व के ये भेद दर्शनमोहनीय की फ़लदान शक्ति की अपेक्षा से नहीं किये गये है । इन भेदों का यदि थोड़ा बहुत कारण कहा जा सकता है तो स्थितिबन्ध ही कहा जा सकता है। यहां स्थितिबन्ध से तात्पर्य सत्ता से है। दर्शनमोहनीय की सत्ता के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही ये तीन भेद होते है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक् प्रकृति का उदय रहता है सही पर वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं है, इसलिये अनुभाग शक्ति को तो किसी भी हालत में सम्यक्त्व के भेदों का कारण नहीं कहा जा सकता है॥९३१॥

बन्ध के चार भेद और उनका स्वरूप -

बन्ध के चार भेद हैं -प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, और अनुभागबन्ध। - ये भेद अनादिकाल से चले आ रहे हैं॥९३२॥ जिसका जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। अवयवों के आधार से प्रदेश जानना चाहिये। रस को अनुभाग कहते हैं और काल का अवधारण करना स्थिति है॥९३३॥ इन चारों में एक मात्र अनुभागबन्ध ही अपने कार्य के करने में समर्थ है। इसके सिवा शेष तीन प्रकार का बन्ध कार्य करने में समर्थ नहीं है॥९३४॥ इसलिये इन सम्यग्दर्शनों में स्थितिवश दर्शनमोहनीय की सत्ता रहने पर भी ज्ञानचेतना की थोड़ी भी क्षति नहीं होती ।॥९३५॥

विशेषार्थ- आत्मा की राग, द्वेष रूप परिणतिवश प्रति समय कर्म वर्गणाओं का योग द्वारा ग्रहण

होता रहता है। ये आत्मा से संश्लिष्ट होकर स्थित रहती है । इनमें उस उस समय के भावों के अनुसार जिस जिस प्रकार के कार्य के होने में निमित्त बनने की योग्यता हो जाती है वही उनकी संज्ञा होती है। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि। इन सभी कर्मों की मुख्यतया चार अवस्थाएं होती हैं जिन्हें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश कहते हैं। कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है और योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। ये कर्म बन्ध के चार भेद हैं। इनमें से जिस कर्म में जैसी फल दिलाने की शक्ति होती है उसके अनुसार वह कर्म जीव की अवस्था के होने में निमित्त होता है। मुख्य कार्यकारी फलदानशक्ति ही मानी गई है। उदय काल में इसी के अनुसार फल मिलता है। प्रकृति, स्थिति और प्रदेश ये कार्यकारी नहीं होते। आशय यह है कि कर्म की प्रकृति कोई रही आवे, स्थिति भी कितनी ही रहे आवे और प्रदेश भी कितने ही रहे आवें पर अनुभाग शक्ति उदय काल में जितनी और जैसी होगी उसी के अनुसार फल मिलेगा। स्थित अधिक है; प्रदेश अधिक हैं इसलिये फल अधिक मिलेगा और स्थित कम है, प्रदेश कम हैं, इसलिये फल कम मिलेगा ऐसा नहीं है। फल की व्याप्ति अनुभाग के साथ है इनके साथ नहीं इसलिये मुख्य रूप से अनुभागबन्ध ही कार्यकारी माना गया है। प्रकृति; स्थिति और प्रदेश हैं पर अनुभाग बदल गया तो वह फल नहीं मिलता, अन्य फल मिलता है। पर स्थिति और प्रदेशों के घट बढ़ जाने पर ऐसा नहीं होता । सब बन्धों में अनुभागवन्ध मुख्य है। कर्मों के सत्वकाल में रहते तो चारों बन्ध हैं पर उनका उदय न होने से वे अपना कार्य नहीं करते। इसी से सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना के होने में कर्मों को बाधक नहीं माना है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥९३२-९३५॥

+ सम्यक्त्व के सद्भाव में होने वाले गुण -

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सदगुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारम्य ततोऽप्पूर्ध्वम् च तद्वतः ॥936॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥937॥
अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा ॥938॥

अन्वयार्थ : सम्यक्त्व के सद्भाव में होनेवाले सदगुण-

इस प्रकार ये निःशंकित आदि तथा अन्य जितने गुण हैं वे सब सद्गुण माने गये हैं। ये सम्यक्त्व के होने पर होते हैं और आगे भी सम्यग्दृष्टि के पाये जाते हैं॥९३६॥ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभवज्ञान, वैराग्य और भेदविज्ञान इत्यादि वे गुण हैं जो सम्यग्दर्शन के होने पर नियम से होते हैं । इस विषय में अधिक क्या कहूँ॥९३७॥

विशेषार्थ - यहाँ सम्यग्दर्शन के ऐसे गुणों का निर्देश किया है जो उसके सद्भाव में नियम से होते हैं। पहले निःशंकित आदि गुण बता आये हैं। यहाँ उनके सिवा कुछ अन्य आवश्यक गुणों का संकेत किया है। सम्यग्दृष्टि को आत्मानुभूति होने लगती है। वह संसार और संसार के कारणों को भी अच्छी तरह जान लेता हैं। वह यह भी जानने लगता है कि स्व क्या है और पर क्या है। इसलिये उसके जीवन में स्वानुभव प्रत्यक्ष और वैराग्य आदि गुणों का उदय होना स्वाभाविक है॥९३६-९३७॥

तीन प्रकार की चेतना ही जीव का लक्षण है-

चेतना एक होकर भी आगम में वह तीन प्रकार की कही गई है । जिससे उपलक्षित होने के कारण ही जीव सार्थक नामवाला है अन्य प्रकार से नहीं ॥९३८॥

विशेषार्थ - यहाँ चेतना के तीन भेद निमित्त की मुख्यता से किये गये हैं। इनमें से कोई न कोई भेद जीव के अवश्य पाया जाता है । एकेन्द्रिय आदि के कर्म फल चेतना यह भेद पाया जाता है। संज्ञी आदि के कर्म चेतना यह भेद प्रमुखता से पाया जाता है और सम्यग्दृष्टि आदि के ज्ञानचेतना यह भेद मुख्यता से पाया जाता है। जीव यह नाम चेतना के कारण ही सार्थक है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥

९३८॥

+ शंका -- क्या जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही हैं या उनमें अन्य गुण भी पाये जाते हैं ? -

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीव: सर्वोऽपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥939॥

अन्वयार्थ : क्या सभी जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही हैं या उनमें चैतन्य आदि अन्य गुण भी पाये जाते हैं ?

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येक: सचेतन: ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥940॥
अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकै: ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥941॥
तद्यथायथं जीवस्य चरित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणा: सफुटम् ॥942॥

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्यावाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥943॥

अन्वयार्थ : प्रत्येक जीव अनन्त धर्म वाला कहा गया है, क्योंकि जितना भी पदार्थ समूह है वह सब अनन्तगुणात्मक है ॥९४०॥ यद्यपि आगे युक्ति, स्वानुभव और आगमसे साध्यभूत जीव का विचार करने वाले हैं तथापि इसकी परीक्षा करनेवालों को विशेष चिन्ह द्वारा इसे जानना चाहिये ॥९४१॥ यथा- जीव के चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ये स्पष्टतः विशेष गुण हैं ॥९४२॥ और वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीव के सामान्य गुण हैं ॥९४३॥

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रम् तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः ॥944॥
तथापि प्रोच्यते किन्चिच्छुयतामवघानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥945॥
अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥946॥
यथा वा स्वच्छतादर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः ।

तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोऽपि सा ॥947॥
वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित् ।
प्रकृतौ यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥948॥
यथा दि वारुणीपानाद्धुद्धिर्नाबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्त्वं तदर्थसात् ॥949॥
प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रम् तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥950॥
अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीव दुःखित्वासुखस्योन्मूलनादपि ॥951॥
अपि द्रव्यनयादेशात् टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत्त ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥952॥
नांगीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोऽस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥953॥
यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद्वाधितो बलात् ।

संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥954॥
स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हटाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥955॥
जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥956॥
सर्वं विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥957॥
सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः ।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥958॥

अन्वयार्थ : यद्यपि सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण निसर्ग सिद्ध है। वे स्वभाव से प्राकृत है और टन्कोत्कीर्ण की तरह सदा रहते हैं ॥९४४॥ तथापि उनका कुछ विचार करते हैं। उसे सावधानी से सुनना चाहिये, क्योंकि युक्ति से जिस प्रवाह का समर्थन किया जाता है उसे कौन रोक सकता है ॥९४५॥ उन गुणों में स्वतः सिद्ध एक वैभाविकी शक्ति है जो जीव के संसार अवस्था में अपने कारण से विकृत बनी रहती है ॥९४६॥ जैसेकि दर्पण में स्वच्छता निसर्ग सिद्ध होती है । स्वच्छता के लिये अन्य निमित्त नहीं लगता। और जैसे मुख के संयोग से इसमें विकृति पैदा हो जाती है वैसे ही वैभाविकी शक्ति के विषय में वास्तव में समझना चाहिये ॥९४७॥ यद्यपि पदार्थ में विकृति आ जाती है तो भी वह अन्यरूप नहीं हो जाता है। वास्तव में प्रकृति में जो विकारीपन आ जाता है उसे ही विकृति कहते हैं ॥९४८॥ जिस प्रकार मदिरा पीने से मनुष्य की बुद्धि अबुद्धि नहीं हो जाती है। किन्तु इससे बुद्धि में एक दूसरी अवस्था उपन्न हो जाती

है। वही उसकी वास्तविक विकृति है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥९४९॥ चाहे ज्ञान प्राकृत हो या विकृत, वह सभी ज्ञान मात्र ही है। जितना ज्ञान इन्द्रियाधीन है उसे विकृत ही जानना चाहिये ॥९५०॥ ऐसा होने से जीव को नियम से हानि ही होती है। इससे वास्तव में लाभ कुछ भी नहीं है, क्योंकि इसके रहने पर जीव अत्यन्त दुखी बना रहता है और उसके आत्मीय सुख का उन्मूलन हो जाता है ॥९५१॥ यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव टन्कोत्कीर्ण होता है तो भी ऐसी अवस्था में कोई जीव आत्मसुख में स्थिर नहीं रहता प्रत्युत वह अतीव दुखी बना रहता है ॥९५२॥ यहाँ यह पक्ष भी नहीं अंगीकार करना चाहिये कि जिस प्रकार मणि चाहे बद्ध हो या अबद्ध हो वह सदा एकसा बना रहता है। उसी प्रकार यह जीव भी सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है ॥९५३॥ क्योंकि जीव की ऐसी स्थिति मानने पर यह पक्ष नियम से बाधित हो जाता है। तब न संसार रहता है और न मोक्ष ही ठहरता है। उन दोनों में अभेद हो जाता है ॥९५४॥ यदि जीव सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है ऐसा माना जाय तो संसार किस नय से बन सकेगा। यदि इसे हठपूर्वक स्वीकार किया जाता है तो बिना हेतु के अनिष्ट का प्रसंग आता है ॥९५५॥ यदि जीव सब प्रकार से शुद्ध है ऐसा माना जाता है तो मोक्ष का कथन करना निरर्थक ठहरता है । यदि कहा जाय कि प्रकृत में ऐसा मान लेना इष्ट है सो भी बात नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो मोक्ष के लिये जो श्रम किया जाता है वह व्यर्थ ठहरता है ॥९५६॥ तथा ऐसा मानने पर सभी व्यवस्था बिगड़ जाती है न प्रमाण बनता है, न उसका फल बनता है, साधन, साध्य, कारक और क्रिया ये कुछ भी नहीं बनते ॥९५७॥ इस तरह पूर्वोक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है कि संसारी जीवों के भावसन्तति विकृत है, दुःख की मूर्ति है और खोटे फलवाली है ॥९५८॥

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥959॥

अन्वयार्थ : वैभाविक भाव कितने हैं, कैसे हैं, क्या नामवाले हैं और कैसे जाने जाते हैं ? हे

वक्ताओं के शिरोमणि ! मुझे समझाओ ॥९५९॥

श्रणु साधो महाप्राज्ञ ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितम् ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किन्चित्स्वानुभवादपि ॥960॥
लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पन्च यथोदिताः ॥961॥
तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥962॥
पारिणामिकभावः स्यात् पंचेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपंचशदितीरिताः ॥963॥

अन्वयार्थ : हे साधो हे महाप्राज्ञ ! जो तुम्हें अभीष्ट है उसमें से बहुत कुछ तो मैं जैनागम के अभ्यास से कहता हूँ, और कुछ स्वानुभव के बल से भी कहता हूँ, सुनो ॥९६०॥ यद्यपि संक्षिप्त भावों को विस्तार से देखा जाय तो वे असंख्यात लोक प्रमाण प्राप्त होते हैं किन्तु उनकी जाति की विवक्षा करने पर वे पांच प्रकार के कहे गये हैं ॥९६१॥ उनमें से पहला औपशमिक भाव है , दूसरा क्षायिक भाव है, तीसरा क्षायोपशमिक भाव है, चौथा औदयिक भाव है और पांचवां पारिणामिक भाव है, इस प्रकार क्रम से पांच भाव कहे गये हैं। और इनके उत्तर भेद त्रेपन कहे गये हैं ॥९६२-९६३॥

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥964॥
यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥965॥
यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥966॥
कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाप्यौदयिकान्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥967॥
कृतस्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥968॥

अन्वयार्थ : पाँच भावों का स्वरूप—

विपक्षी कर्मों के पाक का स्वयं उपशम होने से प्राणियों के जो भाव होता है उसकी ओपशमिक संज्ञा है॥९६४॥ यथायोग्य विपक्षी कर्मों के सर्वथा क्षय होने से जो भाव उत्पन्न होता है वह जीव का शुद्ध और स्वाभाविक क्षायिक भाव है॥९६५॥ जो भाव सर्वघाति स्पर्धकों के अनुदय से और देशघाति स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक भाव है॥९६६॥ संसार में कर्मों के उदय से जीव का जो भाव होता है वह औदयिक भाव है। यह उसका अन्वर्थ नाम है और एक मात्र यही भाव बन्ध में अधिकारी माना

गया है॥९६७॥ सब कर्म की जो पहले चार अवस्थाएँ कही गई हैं उनकी अपेक्षा के बिना आत्म द्रव्य सापेक्ष जो भाव होता है वह पारिणामिक भाव है॥९६८॥

विशेषार्थ - यहां औपशमिक आदि पांच भावों के स्वरूप को निर्देश किया गया है। कर्मों के सत्ता में रहते हुए अपना कार्य न करना उपशम है। इसके दो भेद हैं- अन्तरकरण उपशम और सदवस्था उपशम। औपशमिक भाव में अन्तरकरण उपशम ही विवक्षित है। अन्तरकरण में, जब उपशम भाव रहता है तब, विवक्षित कर्म का अन्तर हो जाता है। वह कर्म उपशम काल से आगे की स्थिति में रहता है और सदवस्था उपशम में विवक्षित कर्म का फल नहीं मिलता। वह प्रति समय सजातीय प्रकृति रूप से ही अपना काम करता है। जैसा उसका नाम है वैसा वह काम नहीं करता । उदाहरणार्थ- अनन्तानुबन्धी का सदवस्था उपशम रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ भाव प्रकट नहीं होता। अन्तरकरण उपशम दर्शनमोहनीय का और अनन्तानुबन्धी के सिवा शेष चरित्रमोहनीय का ही होता है शेष कर्मों का नहीं और सदवस्था उपशम यथासम्भव घातिया कर्मों का होता है। जिस प्रकृति का आबाधाकाल पूरा होकर उदय और उदीरणा होना सम्भव है फिर भी जिसका उदय और उदीरणा न होकर अनुदय रहता है उसका सदवस्था उपशम होता है। सदवस्था उपशम इस शब्द का व्यवहार मुख्यतया क्षयोपशम भाव के समय ही किया जाता है। यहां उपशम भाव की व्याख्या करते समय ग्रन्थकार ने कम पाक का उपशम बतलाया है सो यह उपशम भाव की सामान्य व्याख्या है । औपशमिक भाव में तो अन्तरकरण उपशम की ही मुख्यता है और इसमें यथासम्भव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चारों का उपशम होता है। इतनी विशेषता है कि दर्शनमोहनीय का संक्रमण होता रहता है। कहीं कहीं कर्म का अनुदय भी उपशम कहलाता है। उदाहरणार्थ- औपशमिक सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अनुदय रहता है फिर भी उसको उपशम संज्ञा दी गई है। क्षायोपशामिक भाव कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसमें सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उपशम तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय रहता है। क्षायिक और औदयिक भाव का अर्थ स्पष्ट है। पारिणामिक भाव में कर्म की निमित्तता नहीं होती। यह अवस्था विशेष है। जिस जीव का कर्म बन्ध अनादि सान्त होता है या ऐसी योग्यतावाला होता है वह भव्य कहलाता है। जिसका कर्म बन्ध अनादि अनन्त होता है वह अभव्य कहलाता है और जो प्राण धारण पर्याय से युक्त होता है वह जीव कहलाता है यह पारिणामिक भाव का मथितार्थ है। इस तरह जीव के वैभाविक भाव कुल पांच प्रकार के

ही होते हैं। यद्यपि क्षायिक भाव जीव के स्वभाव रूप होते हैं। उन्हें विभाव मानना उचित नहीं फिर भी क्षायिक ऐसा व्यवहार निमित्त सापेक्ष होता है इसलिये क्षायिक भावों की परिगणना विभावों में की गई है । पारिणामिक भावों में तो कर्म निरपेक्षता ही मुख्य प्रयोजक है। वैसे वे विभाव तो हैं ही॥९६४-९६८॥

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥969॥
भेदाऔदयिकस्यास्य सूत्रार्थदेकविंशतिः ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥970॥
त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥971॥
लेश्या:षड़ेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥972॥
गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते ॥973॥
कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।

प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥974॥
यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥975॥
एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥976॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार उन भावों का संक्षेप में अलग अलग लक्षण कहा है। अब आगे उनमें से प्रत्येक का विस्तार से स्वरूप कहते हैं ॥९६९॥

सूत्र के अनुसार औदायिक भाव के इक्कीस भेद हैं। चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यात्व, एक अज्ञान, एक असंयतत्व, एक असिद्धता और कृष्णादिक छह लेश्याएँ ये क्रम से इक्कीस भाव कहे गये हैं। अब न तो अति संक्षेप में और न अति विस्तार से उनका स्वरूप कहते हैं ॥९७०-९७२॥

नाम कर्म के भेदों में एक प्रसिद्ध गति नाम कर्म है। गतियां चार हैं, इसलिये इसके चार भेद कहे गये हैं ॥९७३॥ दैववश इस कर्म के विपाक से आत्मा किसी एक शरीर को प्राप्त कर इसके योग्य उदयरूप भावों को करता है ॥९७४॥ जैसेकि तिर्यंच अवस्था में तिर्यन्चो के समान उस पर्याय का अनुसरण करने वाली जो भाव परंपरा होती है वह वहीं होती है , अन्यत्र नहीं होती ॥९७५॥ इसी प्रकार देव, मनुष्य और नारक के शरीर में अपनी अपनी गति के योग्य भाव होते हैं जिनका अन्यत्र पाया जाना प्रायः असम्भव है ॥९७६॥

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्।

तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद् घातिकर्मवत् ॥977॥

अन्वयार्थ : देवादि पर्याय केवल नाम कर्म के उदय से होती हैं फिर यह नाम कर्म घाति कर्मों के समान जीव के भावों का कारण कैसे हो सकता है ?

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥978॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योंदयोऽन्जसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥979॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है फिर भी जिस प्रकार चित्रकार चित्र बनाता है उसी प्रकार वह नाम कर्म भी देवादि के शरीर आदि की रचना करता है। क्योंकि उस का लक्षण भी यही है ॥९७७-९७८॥ इतने पर भी वहाँ निरन्तर नियम से मोहनीय कर्म का उदय रहता है , इसलिये देवादि के शरीर की जैसी क्रिया होती है वैसा वहाँ औदायिक भाव होता है ॥९७९॥

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुःक्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥980॥

अन्वयार्थ : जबकि मोह का उदय नियम से एक धारा में अपने ही आधीन है, वह शरीरादि के

आधीन नहीं है तब फिर वह उस उस शरीर की क्रियारूप से नियत है यह किस युक्ति से बन सकता है ?

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥981॥

अन्वयार्थ : ऐसा नहीं है, क्योंकि मोहनीय कर्म का जो उदय वैभव है और उसमें भी वह जो अपने क्षण के अनुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धि पूर्वक होता है इस विषय में तुम अनभिज्ञ हो ॥९८०-९८१॥

+ मोहनीय कर्म की व्युत्पत्ति और उसके भेद -

मोहनान्मोहकर्मैकं तद् द्विधा वस्तुतः पृथक।
दृङ् मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥982॥
एकधा त्रिविधा वा स्यात कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम्॥983॥
दृङ् मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः॥984॥

अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्ध जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम्॥985॥
यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात्॥986॥

अन्वयार्थ : मोहनीय कर्म का स्वभाव मूर्च्छित करना है इसलिए वह एक प्रकार का है और वस्तुतः वह दो प्रकार का है क्योंकि उसके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं ॥९८२॥ मिथ्यात्व कर्म एक होकर भी तीन प्रकार का है इसलिये तीन ये और आदि के चार क्रोधादिक ये सात दर्शनमोहनीय हैं ॥९८३॥

दर्शनमोहनीय के उदय से इस जीव के मिथ्यात्व भाव होता है। यह नियम से औदयिक है और सम्यक्त्व का घातक है। इसका वारण करना बड़ा कठिन है ॥९८४॥ इस दर्शनमोहनीय कर्म का ऐसा कुछ स्वभाव है जिससे वह जीव के शुद्ध सम्यक्त्व गुण को विकारी कर देता है ॥९८५॥ जिस प्रकार मदिरा आदि के पीने पर उसका जो परिपाक होता है उससे बुद्धि मूर्छित होती है और उस मूर्छावश जो शंख आदि वस्तु सफेद होती है उसे यह जीव पीला देखने लगता है ॥९८६॥

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ॥987॥
चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ् मोहस्योदयो यथा ।

निरुणद्धयात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥988॥
यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥989॥
यथा धाराधराकारैर्गुंठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा ॥990॥
यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥991॥
अस्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥992॥
यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥993॥
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥994॥
यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।

स एव क्षायिको भावः कृतस्नस्वावरणक्षयात् ॥995॥

अन्वयार्थ : उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव जितने भी अनात्मीय भाव हैं उन्हें आत्मीय मानता है ॥९८७॥ जिस प्रकार दर्शनमोहनीय का उदय सम्यक्त्व गुण का घात करता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का उदय आत्मा के ज्ञान गुण को रोकता है ॥९८८॥ जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान का नाश होता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के उदय से दर्शन गुण का घात होता है ॥९८९॥ जिस प्रकार मेघों के द्वारा सूर्य के ढक जाने पर सामान्य से उसके रहते हुए भी उसके प्रकाश का आविर्भाव नहीं होता उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥९९०॥ और जो यहाँ रूढिवश ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है सो वह औदायिक नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक ही है ॥९९१॥और जो केवलज्ञान केवलज्ञानावरण कर्म से आवृत है इसलिये वह मूर्छित प्राणी के समान स्व और अपूर्व अर्थ को जानने में समर्थ नहीं है ॥९९२॥ अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान अपने अपने आवरण कर्म से आवृत रहने पर अपना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते ॥९९३॥ इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने अपने आवरण से आच्छादित हैं। उनका आवरणकर्म जितना उदयांशरूप से स्थित है उतना वह ज्ञान तिरोहित रहता है ॥९९४॥ किन्तु जो केवलज्ञान है वह व्यक्तरूप से सब पदार्थों का प्रकाशक है। वह अपने सब आवरण करने वाले कर्मों के क्षय से होता है इसलिये ज्ञानों में वही क्षायिक भाव है ॥९९५॥

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥996॥
उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥997॥

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक् स्मृतिः ॥998॥
ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघातिविवक्षया ।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत् ॥999॥

अन्वयार्थ : मूल रूप से कर्म आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं॥ ९९६॥ उत्तरोतर भेदों की अपेक्षा ये असंख्यात लोक प्रमाण हैं और शक्ति की अपेक्षा सब कर्म अनन्त हैं ॥ ९९७॥ इनमें चार घाति कर्म हैं। यह इनकी सार्थक संज्ञा है क्योंकि ये जीव के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, ऐसा आगम है ॥९९८॥ इनसे बचे हुए शेष चार कर्म अघाति कहलाते हैं। यद्यपि इनमें जीव के अनुजीवी गुणों को घातने की शक्ति नहीं है तो भी इनमें कर्म शक्ति पाई जाती है ॥९९९॥

+ ज्ञानावरणी -

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥524॥
उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥525॥
अस्ति नूनं कुदृष्टे सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।

नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥526॥
पुदलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनम् ॥527॥
यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥528॥
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्त्यथान्निभीको वेदनाभयात् ॥529॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार अर्थवश आत्मा के अनेक गुण हैं, और दूसरा कोई चारा नहीं होने से एक चेतनावरण कर्म है ॥१०००॥ दर्शनावरण कर्म के विषय में भी यही क्रम जानना चाहिये, क्योंकि दर्शन भी आत्मा का एक गुण है इसलिए उसका आवरण करने वाला एक कर्म है उसमें फरक नहीं पड़ सकता ॥१००१॥ इसी प्रकार जीव का एक सम्यक्त्व गुण है । उसे जो कर्म सब प्रकार से मूर्छित करता है वह दर्शन-मोहनीय कहलाता है ॥१००२॥ यह कर्म ज्ञानावरण ओर दर्शनावरण के समान नहीं है, इसलिये इसका किसी अन्य कर्म में अंतर्भाव नहीं होता, क्योंकि यह उन दोनों आवरण कर्मों से भिन्न जाति का है ॥१००३॥ इसलिये यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार जीव का स्वभावतः एक ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीव का स्वभावतः एक दर्शन गुण है ॥१००४॥ इसका नाम पृथक् है, लक्ष्य और लक्षण पृथक् है, और दर्शन-मोहनीय कर्म पृथक् है फिर इस कर्म का किस युक्ति से अन्तर्भाव हो सकता है ॥१००५॥ इसी प्रकार जीव का प्रमाण सिद्ध एक चारित्र-गुण है, उसे जो कर्म मूर्च्छित करता है वह चारित्रमोहनीय कर्म है ॥१००६॥ पहले गुणों के समान जीव का एक वीर्य नाम का गुण है । उसे जो अन्तरित करता है वह अन्तराय कर्म है ॥१००७॥

+ अनंत गुणों की सिद्धी -

एतावदत्र तात्पर्य यथा ज्ञानं गुणाश्रितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥1008॥
न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोऽपि नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥1009॥
किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीयशक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ॥1010॥
गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पुर्वसूरिभिः ॥1011॥

अन्वयार्थ : यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण है, उसी प्रकार युक्ति, स्वानुभव और आगम से अनन्त गुण जानने चाहिये ॥१००८॥ कोई भी गुण कहीं किसी दूसरे गुण में अंतर्भूत नहीं होता । न एक गुण दूसरे गुण का आधार है, न आधेय है, न हेतु है और न हेतुमान् ही है ॥१००९॥ किन्तु सभी गुण अपनी-अपनी शक्ति के योग से स्वतन्त्र हैं और वे विविध प्रकार के अनेक होकर भी पदार्थ के साथ परस्पर में मिले हुए हैं ॥१०१०॥ इस प्रकार यद्यपि गुण अनन्त हैं, तो भी पूर्वाचार्यों ने वचन व्यवहार के गौरव वश कुछ प्रसिद्ध गणों का ही निर्देश किया है ॥१०११॥

+ अवधि और मनःपर्ययज्ञान -

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनः पर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥1012॥
तत्तदावरणस्यौच्चैः क्षयोपशमिकत्वतः ।
स्याद्यथालक्षितान्द्रावात् स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥1013॥

अन्वयार्थ : जो कहीं किसी के अवधिज्ञान होता है वह अनेक प्रकार का है और मनःपर्ययज्ञान भी अनेक प्रकार का है । इन दोनों को समान समझना चाहिये ॥१०१२॥ दोनों ही अपने-अपने आवरण कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से होते हैं और यथा-लक्षित भाव के अनुसार इनकी अन्य गति भी होती है ॥१०१३॥

+ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान -

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सनातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथाहेतुपलब्धिसात् ॥1014॥

अन्वयार्थ : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों छद्मस्थ अवस्था में सदा रहते हैं और जैसी कारण-सामग्री मिलती है उसके अनुसार हीनाधिक हुआ करते हैं ॥१०१४॥

+ चार ज्ञान क्षायोपशमिक -

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥1015॥

अन्वयार्थ : जो ज्ञान जितने अंश में पदार्थों की ग्राहक-शक्ति से युक्त है वह उतने अंश में क्षायोपशमिक है, औदयिक नहीं है ॥१०१५॥

+ सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान -

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥1016॥
अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद् द्विधा ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥1017॥
त्रिशु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः ।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्न स्यादौदयिकं क्वचित् ॥1018॥
अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।

तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥1019॥

अन्वयार्थ : किसी कारण से अवधिज्ञान दो प्रकार का है । सम्यक् अवधि को ज्ञान कहते हैं और कुत्सित अवधि अज्ञान कहलाता है ॥१०१६॥ मतिज्ञान दो प्रकार का है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार का है । सम्यक् और मिथ्या रूप विशेषता के कारण ये दोनों ज्ञान और अज्ञान कहे जाते हैं ॥१०१५॥ इन तीनों ज्ञानों में जो अज्ञान है वह वास्तव में क्षायोपशमिक है । वह किसी भी हालत में औदयिक नहीं है ॥१०१८॥ और जो अज्ञान भाव है वह वास्तव में औदायिक जानना चाहिये । वह चेतना से रहित शरीर की तरह शून्यतारूप है ॥१०१९॥

+ औदयिक भाव -

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥9020॥
न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥1021॥

अन्वयार्थ : इससे यह भी सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीय के उदय से और चारित्रमोहनीय के उदय से जो भाव होता है वह सब औदयिक है ॥१०२०॥ इसी न्याय से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मोहनीय से लेकर और दूसरे जितने भी घाति कर्म हैं उनके उदय से जो भाव होता है, वह सब औदयिक भाव है ॥१०२१॥

+ वैकृत और लौकिक भाव में भेद -

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भाव: शेषः सर्वोऽपि लौकिकः ॥1022॥

अन्वयार्थ : पहले जो कुछ कहा है, उसमें भी इतना विवेक कर लेना अच्छा है कि मोह के उदय से जो भाव होता है वह वैकृत भाव है और इसके सिवा शेष सब भाव लौकिक हैं ॥१०२२॥

+ वैकृत भाव का खुलासा -

स यथानादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।
चारित्रस्य दृशाश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाच्चितः ॥1023॥
तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम ॥1024॥
अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥1025॥

अन्वयार्थ : दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म की संतान अनादि काल से अच्छिन्न रूप से आ रही है । उसके उदय से आत्मा के यह वैकृत भाव होता है ॥१०२३॥ शास्त्रानुसार इसके विषय में ऐसा उल्लेख है कि दर्शन मोहनीय का उदय होने पर जीवों को तत्वों की सम्यक प्रतिपत्ति नहीं होती या विपरीत

प्रतिपत्ति होती है ॥१०२५॥ अर्थात सम्यग्दर्शन की विपरीत परिणति हो जाने से आत्मप्रदेशों में कलुषता उत्पन्न हो जाती है जो आत्मा की मिथ्यात्वरूप एक परिणति है ॥१०२५॥

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम ॥1026॥
निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥1027॥
सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरंतरम् ।
स्याद्विशषोपयोगीह केषान्चित् संज्ञिनां मनः ॥1028॥
तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥1029॥
ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ॥1030॥
कार्य तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ।

स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥1031॥
स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात् कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदित्तव्यं सुदृष्टिभिः ॥1032॥
प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥1033॥
सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥1034॥
अथ तत्रापि केषाश्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो ग्रहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥1034॥
अर्थादेकविधः स स्याज्ज्ञात्तेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥1036॥

अन्वयार्थ : वह मिथ्यात्व सामान्यमात्र है इसलिये उसका कथन करना शक्य नहीं है, अतः संक्षेप में बुद्धिपूर्वक होनेवाले मिथ्यात्व का लक्षण कहते हैं ॥१०२६॥ सामान्य मिथ्यात्व की हेतु से सिद्धि नहीं की जा सकती ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है । तथा युक्ति, स्वानुभव और आगम से भी उसकी सिद्धि होती है ॥१०२७॥ सब संसारी जीवों के निरन्तर मिथ्याभाव रहता है । तथापि किन्हीं संज्ञी जीवों का मन इस विषय में विशेष उपयोगी होता है ॥१०२८॥ अथवा उन संज्ञी जीवों का मन

नियम से अनवस्थित रहता है अतः वह मिथ्या-भावों के विषय में कदाथित् उपयोगी होता है ॥१०२९॥ इसलिये यह बात न्याय से प्राप्त है कि संसारी जीव के मिथ्याभाव स्वभाव से होता है । अथवा दर्शन-मोहनीय के उदय से ही उसका प्रवाह चालू है ॥१०३०॥ दर्शन-मोहनीय के उदय का कार्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । अन्यथा आत्मा को स्वरूप की अनुपलब्धि कैसे होती है ॥१०३९॥ और स्वरूप की अनुपलब्धि होने पर कर्म का महान् बन्ध होता है । इसमें ऐसी शक्ति है यह बात सम्यक दृष्टियों को जान लेना चाहिये ॥१०३२॥ इस विषय में प्रसिद्ध और वस्तु को स्पष्ट करनेवाले करोड़ों दृष्टान्तों के देने से क्या प्रयोजन, क्योंकि मिथ्यात्व का स्वभाव ही ऐसा है, इसमें जरा भी संदेह नहीं । यह स्पष्ट है कि वस्तु की शक्तियां अलंघ्य होती हैं ॥१०३३॥

+ शंका -- बंध के साधक का नियम क्या है? -

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥1034॥

अन्वयार्थ : सब भाव जीवमय हैं, और दृष्टान्त बन्ध का साधक है । फिर यह एक जगह क्यों तो व्यापक है और दूसरी जगह क्यों अव्यापक है ?

अथ तत्रापि केषाश्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो ग्रहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥1035॥

अर्थादेकविधः स स्याज्जात्तेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥1036॥
आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा ।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥1037॥
अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावों निसर्गतः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥1038॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः ।
शक्ति भेदात्क्षणम् यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥1039॥
कारु कारु स्व कार्यत्वाद्धन्धकार्यं पुनः क्षणात् ।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥1040॥

अन्वयार्थ : वहाँ भी किन्हीं संज्ञी-जीवों के बुद्धिपूर्वक ग्रहीत नाम का मिथ्याभाव होता है जो पदार्थों के मिथ्या आकार को लिये हुए स्थित है ॥१०३५॥ वास्तव में वह अपनी जाति को न त्यागते हुए एक प्रकार का है, फिर भी आलाप-विशेष की अपेक्षा वह असंख्यात-लोक-प्रमाण है ॥१०३६॥ उसमें भी जो आलाप एक जाति का है वह भी नानारूप होकर अनेक प्रकार का है । जैसे एकान्त मिथ्यात्व और विपरीत मिथ्यात्व आदि । इसी प्रकार और भाव भी जानने चाहिये ॥१०३७॥ अथवा शक्ति की अपेक्षा मिथ्याभाव स्वभाव से अनन्तरूप है, क्योंकि प्रत्येक आलाप के प्रति अनन्त शक्त्यंश होते हैं ॥१०३८॥ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से शक्ति-भेद से परिणमन करते हुए वे भाव प्रत्येक समय में प्रथक् रूप से उदित होते

हैं और अपना कार्य होने से बन्ध कार्य करके अस्त हो जाते हैं । फिर उदयानुसार अन्य भाव उदित होते हैं ॥१०३९-१०४०॥

+ बुद्धि पूर्वक मिथ्यात्व का दृष्टान्त -

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्यात् ॥1041॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥1042॥
दर्शितेष्वपि तेषूच्चैर्जैनै: स्याद्वादभि: स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥1043॥
ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥1044॥
स्वतःसिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट् ।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥1045॥

नित्यानित्यात्मकं तत्वमेकं चैकपदे च यत् ।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक् ॥1046॥
अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥1047॥
अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दङ्मोहस्यानुशासनात् ॥1048॥
धनधान्यसुताद्यर्थ मिथ्यादेवं दुराशयः ।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥1049॥

अन्वयार्थ : बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान नहीं होना या उनका विपरीत श्रद्धान होना ॥१०४१॥ सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ इसी ग्रन्थ में पहले दिखला आये हैं । उनका ज्ञान जिनदेव के द्वारा कहे गये वचनों से किया जा सकता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥१०४२॥ यद्यपि स्याद्वादी जैनाचार्यों ने उनको अच्छी तरह स्पष्ट रीति से दिखलाया है, तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय-वश उन्हें नहीं स्वीकार करता है ॥१०४३॥ इसी प्रकार वह विचार करता है कि -- शास्त्र में कहा है कि ज्ञान और आनन्द इन्द्रिय और शरीर के बिना भी अन्वय रूप से मुक्तात्मा के पाये जाते हैं सो यह ठीक है कि नहीं है ॥१०४४॥ वह यह भी सोचता है कि जीवादिक छह-द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं, यह जो शास्त्र में कहा गया है वह ठीक है या

नहीं है ॥१०४५॥ इसी प्रकार पदार्थ नित्यानित्यात्म है, ऐसा जो कहा गया है सो एक पदार्थ में परस्पर विरोधी होने से वे रहते है या नहीं रहते ऐसा भी वह संशय करता है ॥१०४६॥ अनात्मीय भाव कर्म

और नोकर्म में 'मैं आत्मा हूं' ऐसी बुद्धि होती है वह दर्शन-मोहनीय की करामात है ॥१०४७॥ इसी प्रकार इसके दर्शन-मोहनीय के उदय से अदेव में देव-बुद्धि, अगुरु में गुरु-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि होती है ॥१०४८॥ मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश घन, धान्य और पुत्रादि की प्राप्ति के लिये मिथ्या देवों की उपासना करता है और नाना प्रकार के कुत्सित कर्म करता है ॥१०४९॥

+ सारांश -- बंध के हेतु मोहनीय से होनेवाले भाव -

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात् ।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम् ॥1050॥
यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः ।
स स्याद्-द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥1051॥
एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥1052॥

अन्वयार्थ : इससे यह सिद्ध होता है कि गति के नाम निर्देश द्वारा जो भाव कहे गये हैं, वे औदयिक तो हैं तो भी वे वास्तव में दर्शन-मोहनीय और चरित्र-मोहनीय के उदय से ही औदयिक हैं ॥१०५०॥ जहां कहीं भी बुद्धिपुर्वक रागांश होता है वह या तो दोनों प्रकार के मोहनीय के उदय से होता है या उनमें से किसी एक के उदय से होता है ॥१०५१॥ इस प्रकार गति के आश्रय से चार औदयिक भाव होते हैं । किन्तु बन्ध के करनेवाले केवल मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले भाव हैं ॥१०४२॥

+ कषाय भाव -

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥1053॥
ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥1054॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥1055॥

अन्वयार्थ : क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय भी जीव के औदयिक भाव जानने चाहिये ॥१०५३॥ वे अपने उत्तर भेदों की अपेक्षा नाम से सोलह और पच्चीस हैं । वैसे असंख्यात लोकमात्र हैं ॥१०५४॥ अथवा शक्ति की अपेक्षा कल्मष रूप वे कषाय अनन्त हैं क्यों कि एक-एक आलाप के प्रति अनन्त शक्त्यंश होते हैं ॥१०५५॥

+ चारित्र-मोह भेद और कार्य -

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥1056॥

तस्माच्चारित्रिमोहश्च तद्भेदाद् द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोऽअस्ति भावरूपोऽस्ति चिन्मयः ॥1057॥

अन्वयार्थ : जीव का एक शुद्ध शक्तिरूप चारित्र नाम का गुण है । किन्तु वह संसार दशा में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से विकृत हो रहा है ॥१०५६॥ इसलिए चरित्र-मोह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का हो जाता है । द्रव्य चारित्रमोह पुद्गलात्मक है और भाव चारित्रमोह चैतन्यरूप है ॥१०५७॥

+ द्रव्य-कर्म -

अस्त्येकं मूर्तमद् द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥1058॥
पृथिवीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः ।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥1059॥

अन्वयार्थ : एक मूर्तिमान द्रव्य है जो पुद्गल नाम से प्रसिद्ध है, वह विकृत होकर चारित्र मोहरूप से स्थित है ॥१०५८॥ सब ही पोद्गलिक-मोह पृथिवी के पिण्ड के समान है । वह स्वयं पुद्गल है आत्मा नहीं है । किन्तु आत्मा और द्रव्य-मोह इन दोनों का बन्ध हो रहा है ॥१०५९॥

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः ।

उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥1060॥
जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।
बन्धहेतु : स एव स्याद्-द्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥1061॥
अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च ।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥1062॥
अशुचिघार्थको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः ।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥1063॥

अन्वयार्थ : दोनों प्रकार के ही पौद्गलिक मोहनीय-कर्म के उदय से आत्मा का जो भाव होता है, वह भाव- मोह कहा जाता है ॥१०६०॥ जल में काई के समान नियम से वह भाव-मोह मलीन होता है और एक मात्र वही आठों कर्मों के बन्ध का हेतु है ॥१०६१॥ सब अनर्थों का मूल भी वही है , क्योंकि अनर्थों का मूल कारण कर्म है और उनका मुख्य कारण वह भावमोह है ॥१०६२॥ वह अशुचि है, घातक है, रौद्र है , दुःखरूप है और दुःख का फल है | इस विषय में बहुत कहने से कया प्रयोजन ? इतना कहना पर्याप्त है कि वह सब विपत्तियों का स्थान है ॥१०६३॥

कायकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः ।
पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्त्रवसंचयात् ॥1064॥

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः ।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥1065॥
निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तभागच्छन्ति पुद्गलाः ।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्मान्द्भावोऽस्ति कारणम् ॥1066॥
विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्व कर्मणाम ॥1067॥
अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।
निमित्तनैमित्तको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥1068॥
अंतर्दृष्टया कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोंः ॥1069॥
यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायन्मोक्षो न कस्यचित् ॥1070॥
इत्पेवं ते कषयाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः ।
चारित्रस्य गुणास्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः ॥1071॥

अन्वयार्थ : यह भावमोह कार्य भी है और कारण भी है । पूर्व में बाँधे हुए कर्म के उदय से होता है इसलिये तो कार्य है और नवीन आस्रव के बन्ध का हेतु है, इसलिए कारण है ॥१०६४॥ जिस समय यह पूर्वबद्ध द्रव्य-मोह कर्म के प्रकृष्ट उदय से आत्मलाभ करता है उस समय उस अपेक्षा से वह कार्यरूप है ॥१०६५॥ और इसके निमित्त से ज्ञानावरणादि पुद्गल आते हैं इसलिये भावमोह कारणरूप है ॥१०६६॥ इसके विषय में ऐसी कुछ विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय कर्म का है परन्तु कारणमात्र मोहनीय के बंध का और सब कर्मों के बन्ध का है ॥१०६७॥ इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिस प्रकार कुम्हार और घट का निमित्त नैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का परस्पर

निमित्त नैमित्तिक भाव है ॥१०६८॥ अंतर्दृष्टि से देखने पर कषाय और कर्म का ही परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक भाव है जीव और कर्म का नहीं ॥१०६५॥ क्योंकि कर्म-बंध में जीव को स्वयं निमित्त मान लेने पर जीव सदा ही उसका कर्ता बना रहेगा फिर कभी भी किसी को मुक्ति नहीं मिलेगी ॥१०७०॥ इस प्रकार वे चारों ही कषाय औदयिक जानना चाहिये। वे आत्मा के चारित्र गुण की विभाव पर्याय हैं ॥१०७१॥

+ नोकषाय -

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात् ।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल ॥1072॥
चारित्रमोहकर्मैतद् द्विविधं परमागमात् ।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥1073॥
तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः ।

हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम् ॥1074॥
ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥1075॥

अन्वयार्थ : स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद के भेद से तीनों लिंग औदयिक ही हैं, क्योंकि ये नोकषायों के अवान्तर भेद स्त्री-वेद, पुरुष-वेद और नपुंसक-वेद के उदय से होते हैं ॥१०७२॥ परमागम के अनुसार यह चारित्र-मोहनीय कर्म दो प्रकार का है -- पहला कषाय और दूसरा नोकषाय ॥१०७३॥ उसमें भी नोकषाय अपने भेदों के अनुसार नौ प्रकार का है -- हास्य , रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और तीन लिंग ॥१०७४॥ इसलिये चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले ये भाव भी चारित्र गुण के वैभाविक-भाव हैं ॥१०७५॥

+ लिंग -

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः ।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वेज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥1076॥
अस्ति यन्नाम कर्मैकं नानारूपं च चित्रवत् ।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥1077॥
आङ्गोपांङ्गं शरीरं च तद्भेदौ स्तोऽप्यभेदवत् । .

तद्विपाकात् त्रिलीङ्गानामाकाराः संभवन्ति च ॥1078॥
त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥1079॥
भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥1080॥

अन्वयार्थ : सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार प्रत्येक लिंग स्वभाव से ही द्रव्य-वेद और भाव-वेद के भेद से दो प्रकार के होते हैं ॥१०७६॥ एक नाम-कर्म है, वह चित्रों के समान नाना प्रकार का है, पौद्गलिक है, जड़ है और पुद्गल-विपाकी है ॥१०७७॥ आंगोपांग और शरीर ये उसी के भेद है जो उससे जुदे नहीं हैं । इनके उदय से तीन लिंगों के आकार प्राप्त होते हैं ॥१०७८॥ तीन लिंगों के आकार का प्राप्त होना नाम-कर्म का कार्य है । यह भाव-लिंग में थोड़ा भी कार्यकारी नहीं है ॥१०७९॥ भाव-वेद में नियम से एक चारित्र-मोहनीय का उदय कारण है, किसी दूसरे कर्म का उदय किसी भी हालत में कारण नहीं है ॥ १०८०॥

कर्म सिद्धान्त के नियमानुसार शरीर नाम कर्म और आंगोपांग नामकर्म का उदय शरीर ग्रहण के प्रथम समय से होता है और वेद नोकषाय का उदय भव के प्रथम समय से होता है। दूसरे एकेन्द्रिय के एकमात्र भाववेद होता हे, द्रव्यवेद नहीं होता इसलिये भाववेद में द्रव्यवेद को कारण मानना उचित नहीं है । इन दोनों की कार्य कारण भाव को व्याप्ति नहीं बनती यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात् किल ।
नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥1081॥

नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥1082॥
द्रव्यलिङ्गं यथा नाम भावलिङ्गं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥1083॥
यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतरः ।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एवं हि ॥1084॥
भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो न चेतरः ।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसम्भवः ॥1085॥
नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥1086॥
तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात् केवलः किल ॥1087॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिर्यञ्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥1088॥

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च ।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥1089॥
केषाश्चिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः ।
स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥1090॥
केषाश्चित्क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः ।
पुंवेदो क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥1091॥
कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।
कदाचित्क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात्कचित्पुमान् ॥1092॥

अन्वयार्थ : पुरुषवेद के उदय से स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा होती है । स्त्रीवेद के उदय से पुरुषों के साथ भोग भोगने की अभिलाषा होती है और जो शक्तिरहित होने से न तो स्त्रियों के साथ भोग भोग सकता है और न पुरुषों के साथ भोग भोग सकता है, किन्तु भीतर ही भीतर जलता रहता है, वह नपुंसकवेद है । वह नपुंसकवेद के उदय से होता है ॥१०८१-१०८२॥ कहीं पर जैसा द्रव्यलिंग होता है वेसा ही भावलिंग होता है । कहीं पर द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है ॥ १०५३ ॥ खुलासा इस प्रकार है -- देव स्त्रियों के स्त्रीवेद ही होता है, अन्य वेद नहीं होता । इसी प्रकार सभी देवों के भी पुरुष-वेद ही होता है ॥१०८४॥ भोगभूमि में स्त्रियों के स्त्री-वेद ही होता है अन्य वेद नहीं होता और पुरुषों के पुरुष-वेद ही होता है अन्य वेद नहीं होता ॥१०८५॥ सभी नारकियों के द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से एक नपुंसक वेद ही होता है स्त्री वेद या पुरुषवेद नहीं होता ॥९०८६॥ तिर्यंच-जाति में सभी एकेन्द्रियों के नपुंसक वेद दोता है, विकलत्रयों के भी नपुंसक वेद होता है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के

भी नपुंसकवेद होता है, इन सब में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से नपुंसक वेद होता है, अन्य वेद नहीं होता ॥१०८७-१०८८॥ कर्म-भूमि में मनुष्य, मनुष्यनी, तिर्यंच और तिर्यंचनी इन चारों के उदयानुसार तीनों वेद होते हैं ॥१०८०॥ किन्हीं के द्रव्य से पुंवेद होता है और भाव से स्त्री वेद, नपुंसकवेद या पुरुषवेद होता है ॥ १०९०॥ किन्हीं के द्रव्य से नपुंसक वेद होता है और भाव से पुंवेद, नपुंसकवेद या स्त्री वेद यथायोग्य होता है ॥१०९१॥ कोई एक-एक पर्याय तक क्रमानुसार तीन वेद वाला होता है। कदाचित् भाव से नपुंसक वेदी होता है या स्त्री वेदी होता है और किसी पर्याय में भाव से पुरुषवेदी होता है ॥१०९२॥

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात् किल ।
नित्यं चाबुद्धिपूर्वाः स्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥1093॥
तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवलं पाप कर्मणाम् ॥1094॥
द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नान्न बन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बंधस्याकारणात्स्वतः ॥1095॥

अन्वयार्थ : ये तीनों ही भाव-वेद वेद-नोकषायों के निरन्तर उदय से होते हैं । ये सदा अबुद्धिपूर्वक होते हैं, कहीं बुद्धिपूर्वक होते हैं ॥१०९३॥ इनका चरित्र-मोह में अंतर्भाव होता है और संक्लेशरूप होने से केवल पाप-कर्मों के बन्ध के कारण हैं ॥१०९४॥ आगम में सभी द्रव्य-लिंग बन्ध के हेतु नहीं माने गये है, क्योंकि वे केवल देह से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये वे स्वयं बन्ध के कारण नहीं हो सकते ॥१०९५॥

+ मिथ्यादर्शन -

मिथ्यादर्शनमाख्यातं घातान्मिथ्यावकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किल ॥1096॥
अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणाश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥1097॥
उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥1098॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है । यही जीव का मिथ्यात्व भाव कहलाता है । वह नियम से औदायिक है ॥१०९६॥ जीव का एक स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण है । वह मिथ्यात्व कर्म के उदय से विकृत हो रहा है ॥१०९७॥ जीवों के जो मिथ्याभाव होता है उसका स्वरूप पहले कह आये हैं इसलिए पुनरुक्त होने के भय से यहां उसका थोड़ा भी स्वरूप नहीं कहा है ॥१०९८॥

+ अज्ञानभाव -

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।

लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥1099॥
अस्त्यात्मनो गुणः ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥1100॥
अर्थादोदयिकत्वेऽपि भावस्यास्याप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्याद्हेतुता ॥1101॥
नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥1102॥
दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥1103॥

अन्वयार्थ : जीव का एक अज्ञानभाव है जो स्पष्टतः औदयिक है, क्योंकि वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है ॥१०९९॥ जीव का अपने स्वरूप का और दूसरे अपूर्व अर्थों का अवभासक एक ज्ञान गुण है । वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से या तो मूर्छित शरीरवाला है या मृत शरीर जैसा है ॥११००॥ यद्यपि यह भाव औदयिक अवश्य है तथापि वह ज्ञानावर्णादि कर्मों के बन्ध कार्य का हेतु नहीं है ॥११०१॥ यह संक्लेश रूप भी नहीं है जिससे कि वह बन्ध का कारण हो । किन्तु जो क्लेश दुःख की मूर्ति है उसके सम्बन्ध से यह अवश्य ही क्लेशवाला हो रहा है ॥११०२॥ यह अज्ञानभाव स्वभाव से दुःख की मूर्ति है, क्योंकि कर्मों का उदय वज्र के आघात के समान माना गया है ॥११०३॥

ननु कश्चिद् गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥1104॥
तत्कथं मुर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणाः गुणाः ॥1105॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद् गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥1106॥

अन्वयार्थ : ज्ञानादि गुणों के समान कोई एक सुख गुण भी है और उसका विकार दुःख है जो अपने विपक्षी कर्म के उदय से होता है ॥११०४॥ फिर यहाँ मूर्छित ज्ञान को सर्वथा दुःख कैसे माना गया है, क्योंकि तत्वार्थ-सूत्र में सभी गुण द्रव्य के आश्रित और निर्गुण कहे हैं, ॥११०५॥ यदि ज्ञानादि गुणों में कोई सुख गुण नहीं है तो सभी मिथ्याभाव और कषाय आदिक दुःख कैसे हो सकते हैं ? ॥११०६॥

सत्यं चास्ति सुख जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैतकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥1107॥
अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥1108॥

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥1106॥
न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात् ।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥1110॥
कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च ।
अस्ति किंचिन्न कर्मेकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥1111॥
वेदनीयंहि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥1112॥

अन्वयार्थ : यह बात ठीक है कि जीव का ज्ञानादि गुणों के समान एक सुख-गुण भी है और वह विकृत होकर दुःखरूप होता है जो आठों कर्मों के उदय से होता है ॥११०६-११०७॥ सभी कर्मों की उदयरूप शक्ति दो प्रकार की है -- एक सामान्यरूप और दूसरी विशेषरूप, क्योंकि कर्मों की फलदान शक्ति दो प्रकार की होती है ॥११९०८॥ सामान्यरूप शक्ति सभी कर्मों की एक लक्षणवाली है -- यथा, सम्पूर्ण कर्मों का उदयागत रस जीव की आकुलता का कारण है ॥११०९॥ यह बात असिद्ध भी नहीं है, किन्तु दृष्टान्त से इसका समर्थन होता है । हम देखते हैं कि विष के खाने से दुःख और प्राणों का घात -- ये दो कार्य होते हैं ॥१११०॥ आठों कर्म एक सुख गुण के विपक्षी हैं । इसीलिये प्रथक् रूप से कोई एक कर्म उसका विपक्षी नहीं माना गया है ॥१११११॥ यदि कहा जाय कि एक वेदनीय कर्म उसका विपक्षी है सो यह बात नहीं है, क्योंकि परमागम् के अनुसार यह अघातिरूप से प्रसिद्ध है । मात्र वह इसका विपक्षी नहीं हो सकता ॥१११२॥

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥1113॥
संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशघाऽथवा ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥1114॥
पंचानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥1115॥
स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसंयमः ॥1116॥

अन्वयार्थ : इस जीव के एक असंयत्व भाव होता है । वह औदायिक है, क्योंकि वह चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है ॥१११३॥ असंयतत्व भाव के भेद -- क्रिया की अपेक्षा संयम दो प्रकार का है और विस्तार से बारह प्रकार का है । किन्तु मूलतः आत्मा क्रिया-रहित है इसलिये उसकी अपेक्षा शुद्ध-आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही संयम है ॥१११७॥ पांचों इन्द्रियाँ और मन का निरोध करने से इन्द्रिय-निरोध नाम का संयम होता है । यह संयम का पहला भेद माना गया है ॥१११५॥ पांचों स्थावर-काय और त्रस जीवों का संरक्षण करने से असुसंरक्षण नाम का संयम होता है । यह संयम का दूसरा भेद है । इसका दूसरा नाम प्राण-संयम भी है ॥१११६॥

+ प्रश्न -- इन्द्रियों-संयम और प्राणी-संयम क्या है ? -

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥1117॥

अन्वयार्थ : इन्द्रियों और मन का रोकना क्या है और स्थावर तथा त्रस जीवों का संरक्षण क्या है ?

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥1118॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं समृतम् ॥1119॥
इस्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः ।
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥1120॥

अन्वयार्थ : इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है वह असंयम का कारण नहीं है किन्तु उसमें जो राग बुद्धि होती है उसका रोकना ही इन्द्रिय संयम है ॥१११८॥ और त्रस तथा स्थावर जीवों के वध के लिये किसी भी हालत में मन उद्यत न होना, वचन का उद्यत न होना और काय का उद्यत न होना प्राणि संयम है ॥१११९॥ इस तरह पूर्वोक्त लक्षणवाला संयम जहाँ अंशमात्र भी नहीं होता है वह

असंतत्व भाव है जो कि औदयिक है ॥११२०॥

+ असंयतभाव और कषाय चारित्र-मोहनीय के कार्य होने से एक हैं ? -

ननु वाऽसंयतत्वस्य कषायाणां परस्परम् ।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥1121॥

अन्वयार्थ : असंयतभाव और कषाय इनमें परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनों ही एकमात्र चारित्र- मोहनीय के कार्य हैं ?

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥1122॥ .
पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥1123॥
पाकात्सम्यकत्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम ।
पाकाच्चप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥1124 ।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥1125॥
इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥1126॥
किन्तु तच्छक्तिभेदाद् वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद् वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥1127॥
अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः ।
एकश्चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥1128॥

अन्वयार्थ : यह ठीक है कि दोनों ही चारित्र-मोहनीय के कार्य हैं, क्योंकि एक चारित्र-मोहनीय के उदय से असंयम-भाव और कषाय होते हैं ॥११२२॥ चारित्र-मोहनीय के उदय से क्रोधादि सोलह कषाय और नौ नोकषाय होते हैं । इससे न न्यून होते हैं और न अधिक होते हैं ॥११२३॥ अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व की हानि होती है, अप्रत्याख्यानावरण के उदय से संयतासंयत भाव की हानि होती है, प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से संयम की हानि होती है और संज्वलन और नोकषाय के उदय से यथाख्यात-संयम की हानि होती है ॥११२४-११२५॥ यह कषाय और नोकषाय तथा संयतभाव और असंयतभाव इन दोनों के कार्य-कारणभाव का पूरा खुलासा है ॥११२६॥ किन्तु चारित्र-मोहनीय में शक्ति-भेद होने से भेद का सिद्ध करना असिद्ध नहीं है । जिस प्रकार विष सामान्य एक होकर भी वह विष, हालाहल इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये ॥११२७॥ चारित्रमोहनीय में दो शक्ति निसर्ग से हैं एक असंयतत्वरूप और दूसरी कषायरूप ॥११२८॥

+ प्रश्न -- तब चारित्र-मोहनीय के स्पष्टतः छब्बीस भेद होने चाहिये ? -

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥1129॥

अन्वयार्थ : यदि ऐसा है तो न्यायानुसार उसकी संख्या भी बढ़नी चाहिये । तब चारित्र-मोहनीय के स्पष्टतः छब्बीस भेद होने चाहिये ?

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥1130॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्मणवर्गणाः ।
किन्तु शक्तिविशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः ॥1131॥
तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीव्स्यासंयमो मतः ॥1132॥
एतद्-द्वैतस्य हेतुत्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः ।

चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥1133॥
यौगपद्यं द्वोयोरेव कषायासंयतत्वयोः ।
समं शक्तिद्वस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥1134॥
अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ॥1135॥

अन्वयार्थ : यह बात ठीक है कि जहाँ पर जिसकी भिन्न जातिवाली कार्मण वर्गणाएँ होती हैं, वहीं पर ही आलाप की अपेक्षा उतनी संख्या मानी जाती है और कहीं नहीं ॥११३०॥ पर यहाँ पर उस जाति की प्रथक् रूप से वे कार्मण वर्गणाएँ नहीं हैं किन्तु शक्ति विशेष अवश्य है सो वह भी जात्यन्तररूप है ॥ ११३१॥ प्रकृत में कलुषता का नाम कषाय है । यह उसका स्वलक्षण है और जीव के व्रत के अभावरूप जो भाव होता है वह असंयम माना गया है ॥११३२॥ इन दोनों असंयम और कषाय का हेतु दो शक्तियों को घारण करनेवाला एक चारित्र-मोहनीय कर्म है अन्य कर्म इसका थोड़ा भी कारण नहीं है ॥११३३॥ युगपत् दो प्रकार की शक्ति को धारण करनेवाले इस चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से ये दोनों कषाय और असंयम-भाव एक साथ होते हैं ॥११३४॥ इस विषय में अनन्तानुबन्धी कर्म ही दृष्टान्तरूप में उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि यह सम्यक्त्व और चारित्र इन दो को घात करने वाली दो शक्तियों से युक्त है ॥११३५॥

+ प्रश्न -- अप्रत्याख्यानावरण आदि कर्मों के उदय से देशव्रत आदि का घात कैसे बनेगा ? -

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।

देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥1136॥

अन्वयार्थ : आगम में कहा है कि अप्रत्याख्यानावरण आदि कर्मों के उदय से क्रमशः देशव्रत और सर्व-व्रत आदि का घात होता है सो यह कैसे बनेगा ?

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥1137॥

अन्वयार्थ : यह कहना ठीक है, किन्तु बन्ध, सत्व और उदय इन तीनों में से किन्हीं दो के रहने पर तीसरा अवश्य होता है इनका यहाँ अविनाभाव है, इसलिये इस विवक्षा के मान लेने पर कोई दोष नहीं आता है ॥११३७॥

+ असिद्धत्व भाव -

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥1138॥
सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक् ।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥1139॥

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः ।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥1140॥

अन्वयार्थ : असिद्धत्व भाव भी नियम से औदायिक है, क्योंकि यह अलग-अलग या मिलकर आठों कर्मों के उदय से होता है ॥११३८॥ पुरुष की समस्त कर्मों से रहित ज्ञान, दर्शन , सम्यक्त्व और वीर्यादि आठ गुणरूप जो विलक्षण दूसरी अवस्था होती है वह सिद्ध अवस्था है ॥११३९॥ इस संसार में यह सिद्धभाव नहीं होता है । जब तक महान् अनर्थों का घर केवल संसार ही सब कुछ है तब तक वास्तव में असिद्धभाव होता है ॥११४०॥

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥1141॥

अन्वयार्थ : आगम में छह लेश्याएँ प्रसिद्ध हैं । वे सब औदयिक मानी गयीं हैं क्योंकि योग और कषाय इन दोनों के उदय से वे उत्पन्न होती हैं ॥११४१॥

-incomplete-